अगस्त—2022

अखण्ड ज्योति

धर्म एवं अध्यात्म के तत्त्वज्ञान का वैज्ञानिक विश्लेषण

वर्ष–86 । अंक–8 । ₹–19 प्रति । ₹–220 वार्षिक

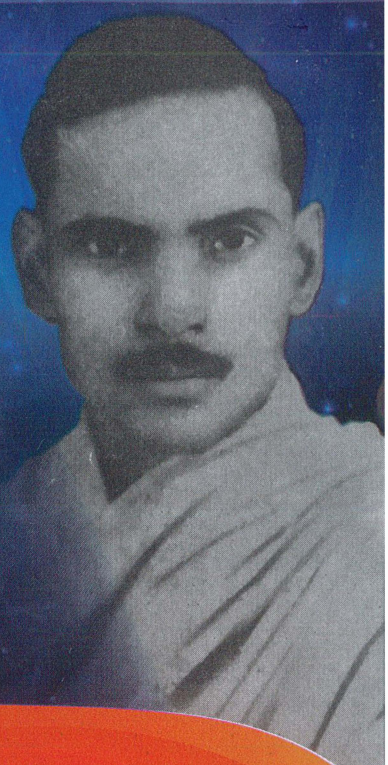

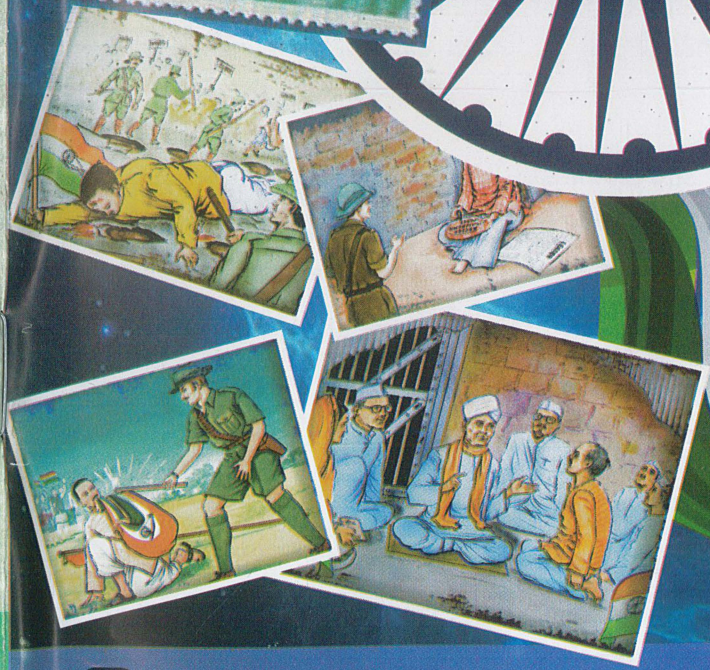

5 कलम आज उनकी जय बोल

16 अंतर्यात्रा से आनंद की ओर

35 कहीं हम भी संसार में खो तो नहीं गए

51 भावनात्मक बुद्धिमत्ता

अखण्ड ज्योति 75 वर्ष पूर्व

अगस्त–1947

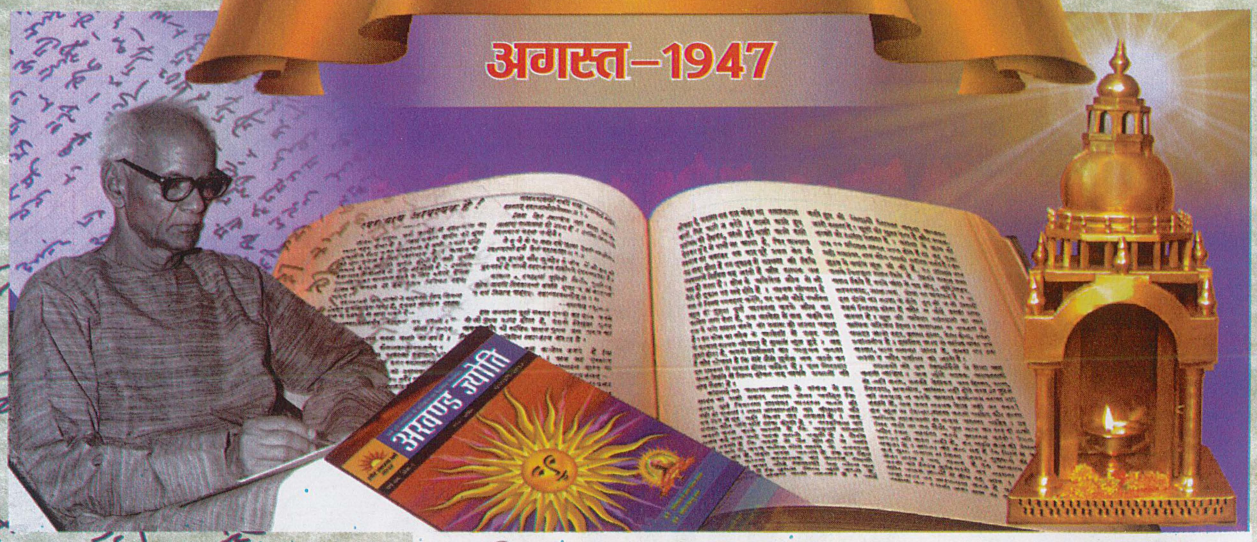

अपने दोष और दुर्गुणों को निकाल डालिए

जीवन में जितनी सांसारिक कठिनाइयाँ हम देखते हैं, उनका बीज कारण हमारे अंदर रहता है। हमारे गुण, कर्म और स्वभाव जिस योग्य होते हैं, उसी के अनुकूल परिस्थितियाँ मिलकर रहती हैं। किसी विशेष कारण से कुछ समय के लिए खास स्थिति प्राप्त हो जाए तो यह अधिक समय ठहरती नहीं; स्थायी रूप से मनुष्य को वही मिलता है, जिसके वह योग्य है, जिसका वह अधिकारी है।

यदि आप आज किन्हीं कठिनाइयों में हैं तो इसका कारण ईश्वर नहीं है, वरन आपके ही कुछ दोष हैं; जिन्हें आप भले ही जानते हो या न जानते हो। पाप एवं दुष्कर्म ही एकमात्र दुःख का कारण नहीं होते। अयोग्यता, मूर्खता, निर्बलता, निराशा, फूट एवं आलस्य भी ऐसे दोष हैं, जिनका परिणाम पाप के ही समान और कई बार उससे भी अधिक दुःखदायी होता है। व्यक्तिगत दुर्गुणों से व्यक्ति दुःख पाते हैं। और जातीय दुर्गुणों से जातियाँ विपत्ति के दलदल में फँस जाती हैं।

आप कठिनाइयों से बचना या छुटकारा प्राप्त करना चाहते हैं तो अपने भीतरी दोषों को ढूँढ़ डालिए और उन्हें निकाल बाहर करने में जुट जाइए। दुर्गुणों को हटाकर उनके स्थान पर आप सद्गुणों को अपने अंदर जितना स्थान देते जाएँगे, उसी अनुपात के अनुसार आपका जीवन विपत्ति से छूटकर संपत्ति की ओर अग्रसर होता जाएगा।

— पंडित श्रीराम शर्मा आचार्य

संस्थापक-संरक्षक
वेदमूर्ति तपोनिष्ठ
पं० श्रीराम शर्मा आचार्य
एवं
शक्तिस्वरूपा
माता भगवती देवी शर्मा
संपादक
डॉ० प्रणव पण्ड्या
कार्यालय
अखण्ड ज्योति संस्थान
घीयामंडी, मथुरा (281003)
दूरभाष नं० (0565) 2403940, 2402574
2412272, 2412273
मोबाइल नं० 9927086291
7534812036
7534812037
7534812038
7534812039
कृपया इन मोबाइल नंबरों पर एस. एम. एस. न करें।
नया ईमेल-
akhandjyoti@akhandjyotisansthan.org
प्रातः 10 से सायं 6 तक

वर्ष	:	86
अंक	:	08
अगस्त	:	2022
श्रावण-भाद्रपद	:	2079
प्रकाशन तिथि	:	01.07.2022

वार्षिक चंदा

भारत में	:	220/-
विदेश में	:	1600/-

आजीवन (बीसवर्षीय)

भारत में	:	5000/-

अध्यात्म

मनुष्य की वास्तविक प्रगति का मूल्यांकन बहिरंग क्रियाकलापों के आधार पर नहीं किया जा सकता। बाहरी क्रियाकलाप या कर्मकांड को करने का कार्य तो कोई भी विद्या-व्यसनी या कौतुकी कर सकता है, पर वह सच्ची प्रगति तो तभी है, जब आंतरिक दृष्टि से श्रेष्ठताओं व उत्कृष्टताओं का अवतरण व्यक्तित्व में हो सके।

मनुष्य के व्यक्तित्व का मूल्यांकन दो दृष्टि से किया जाना उचित होता है। एक है—व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं में कटौती। इसी को दूसरे शब्दों में तप-साधना या संयम कहा जा सकता है। दूसरी है—उपलब्ध श्रम, साधन, प्रतिभा, मनोयोग को सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन के लिए नियोजित करने की ललक-लगन व निष्ठा भरी तत्परता। इन दोनों उद्देश्यों की प्राप्ति बिना अंत:करण को उदात्त बनाए संभव नहीं है।

सही पूछा जाए तो अध्यात्म एक उच्चस्तरीय पुरुषार्थ है—मात्र बाह्य कर्मकांड नहीं। कर्मकांड तो मूलतया वे प्रतीक हैं—जिनके माध्यम से दृष्टिकोण बदलने, आदतें सुधारने हेतु मनुष्य के ऊपर आत्मिक दबाव बनाने का क्रम चलाया जाता है। जब तक चेतना का अधिकाधिक परिष्कार न किया जाए, तब तक अध्यात्म जगत् में अभिव्यक्त उपलब्धियों को प्राप्त कर पाना संभव नहीं हो पाता है। वास्तविक अध्यात्म वही है, जो महत्त्वाकांक्षाओं की, लिप्साओं की कटौती करना सिखाता है, जिससे लोक-कल्याण करने हेतु सशक्त ऊर्जा का जागरण संभव हो सके। जिसे यह सत्य समझ आ जाता है, उसके लिए आध्यात्मिक उपलब्धियाँ सहज प्राप्य हो जाती हैं। ❑

विषय सूची

- आवरण—1 — 1
- आवरण—2 — 2
- अध्यात्म — 3
- **विशिष्ट सामयिक चिंतन**
  कलम आज उनकी जय बोल — 5
- अध्यात्म-सुरदुर्लभ जीवन का अनमोल सौभाग्य — 7
- ऐसे हुआ आचार्य शंकर को अद्वैत तत्त्व का ज्ञान — 9
- **पर्व विशेष—रक्षाबंधन**
  संबंधों में मधुरता का पर्व है—रक्षाबंधन — 11
- ऐसी वाणी बोलिए — 13
- अंतर्यात्रा से आनंद की ओर — 16
- सिद्धांतों से समझौता न करें — 19
- क्रांतदर्शी कवि संत कबीर — 21
- प्राकृतिक कृषि — 24
- जैसी श्रद्धा, वैसा व्यक्तित्व — 26
- शिष्य की अंतर्वेदना — 28
- अनमोल है यह मानव तन — 29
- ईश्वर की शरणागति — 32
- शिष्य साधक की हुँकार — 34
- कहीं हम भी संसार में खो तो नहीं गए — 35
- प्रदूषित पर्यावरण का दुष्प्रभाव — 38
- समग्र विकास का साधन है शिक्षा — 40
- **चेतना की शिखर यात्रा—239**
  यथार्थ की कसौटी पर विश्वास — 42
- प्रसन्नता है अवसाद का समाधान — 45
- **ब्रह्मवर्चस-देव संस्कृति शोध सार—160**
  खेलों से व्यक्तित्व विकास — 47
- संगीत के स्वर से थिरकते जड़-चेतन — 50
- भावनात्मक बुद्धिमत्ता — 51
- **युगगीता—267**
  तीन प्रकार की होती है श्रद्धा — 53
- बाँज (ओक) वृक्ष का रोचक संसार — 55
- **परमवंदनीया माताजी की अमृतवाणी**
  नारी का सम्मान जहाँ है — 57
- **विश्वविद्यालय परिसर से—206**
  अध्यात्म और संस्कृति का समन्वित रूप है विश्वविद्यालय — 62
- **अपनों से अपनी बात**
  संघर्षों की घड़ी में लिखी जा रही सौभाग्य की कहानी — 64
- स्मारक हम युगऋषि का.....(कविता) — 66
- आवरण—3 — 67
- आवरण—4 — 68

आवरण पृष्ठ परिचय

स्वतंत्रता संग्राम सेनानी-युगनायक श्रीराम 'मत्त'

अगस्त-सितंबर, 2022 के पर्व-त्योहार

मंगलवार	02 अगस्त	नाग पंचमी
बुधवार	03 अगस्त	सूर्य षष्ठी
गुरुवार	04 अगस्त	तुलसी जयंती
सोमवार	08 अगस्त	पवित्रा एकादशी
शुक्रवार	12 अगस्त	रक्षाबंधन
सोमवार	15 अगस्त	स्वतंत्रता दिवस/बहुला चौथ
बुधवार	17 अगस्त	हलषष्ठी
शुक्रवार	19 अगस्त	श्रीकृष्ण जन्माष्टमी 'वै.'
मंगलवार	23 अगस्त	अजा एकादशी
शुक्रवार	26 अगस्त	कुशाग्रहणी अमावस्या
मंगलवार	30 अगस्त	हरतालिका व्रत
बुधवार	31 अगस्त	श्री गणेश चतुर्थी
गुरुवार	01 सितंबर	ऋषि पंचमी
बुधवार	07 सितंबर	जलझूलनी एकादशी 'वै.'
शुक्रवार	09 सितंबर	अनंत चतुर्दशी
शनिवार	10 सितंबर	महाप्रयाण दिवस वंदनीया माताजी / महालयारंभ
शनिवार	17 सितंबर	विश्वकर्मा जयंती
सोमवार	19 सितंबर	मातृनवमी
बुधवार	21 सितंबर	इंदिरा एकादशी
रविवार	25 सितंबर	सर्वपितृ अमावस्या
सोमवार	26 सितंबर	नवरात्रारंभ

★ **यह पत्रिका आप स्वयं पढ़ें तथा औरों को पढ़ाएँ। कुछ समय के बाद किसी अन्य पात्र को दे दें, ताकि ज्ञान का आलोक जन-जन तक फैलता रहे।** ***—संपादक***

▶ 'नारी सशक्तीकरण' वर्ष ◀

विशिष्ट सामयिक चिंतन

कलम आज उनकी जय बोल

इस माह की पंद्रह तारीख को आने वाला स्वतंत्रता दिवस का राष्ट्रीय पर्व राष्ट्रीयता, मानवता, प्रखरता, संवेदना, साहस और संकल्प जैसे भावों को प्रतिष्ठित करने वाला पर्व है। यह उन महान व्यक्तियों, उन भारत के अजर-अमर सपूतों के प्रति श्रद्धा, आदर और सम्मान की अभिव्यक्ति का पर्व है, जिनके त्याग, बलिदान और शहादत के कारण ही आज यह देश स्वाधीन है और हम लोग स्वतंत्रता के वातावरण में अपने-अपने घरों में सुरक्षित सो पाते हैं।

सुभाषचंद्र बोस, भगत सिंह, चंद्रशेखर आजाद, रामप्रसाद बिस्मिल, राजगुरु, महात्मा गांधी, लोकमान्य तिलक, गोपाल कृष्ण गोखले जैसी महान एवं पवित्र आत्माओं से शुरू हुई इस कुरबानी की कहानी के महानायक अनेकों वे वीर सैनिक भी रहे हैं, जिन्होंने आजादी के बाद भी भारत-पाकिस्तान युद्ध से लेकर कारगिल के संघर्ष में अपने प्राणों की आहुति प्रदान की है।

जब हम भविष्य की ओर मुख करके एक आशा एवं उत्साह का सफर प्रारंभ करते हैं तो इन महापुरुषों के अमूल्य योगदानों को स्मरण किए बिना वो यात्रा एक तरह से अधूरी रह जाती है; क्योंकि वही देश बुलंदियों के सफर पर आगे बढ़ पाता है, जो अपने अतीत के गौरव को, गुजरे हुए कल के बलिदानों को सम्मानित करना जानता है।

ऐसा नहीं है कि उनको सम्मान देने के कार्यक्रम भारत में होते नहीं हैं। सच तो यह है कि बाहरी सम्मान के कार्यक्रम ज्यादा होते हैं, परंतु आंतरिक भावाभिव्यक्ति तो लगभग शून्य-सी ही हो चली है। इस सत्य का सामना करने के लिए आज जब हम इस आजादी के महापर्व को मनाते हैं तो हमारा स्वयं से एक प्रश्न पूछना जरूरी हो जाता है और वो यह प्रश्न पूछना जरूरी हो जाता है कि हम जिनका सम्मान कर रहे हैं, उन्होंने जिस भारत को आजाद कराने के लिए या जिस भारत की आजादी को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए अपना बलिदान दिया तो उस बलिदान के साथ हम आज कितना न्याय कर पा रहे हैं?

इस प्रश्न का हमें सही उत्तर मिल सकेगा यदि हम इस प्रश्न को कुछ इस तरह से पूछें कि आज जिन चित्रों पर हमने मालाएँ चढ़ाईं, इस स्वाधीनता दिवस पर जिनके नाम का गुणगान हमने किया-यदि उनमें से कोई एक भी बलिदानी जीवित होकर लौट आए और हमसे पलटकर इस प्रश्न को करे कि जिस तिरंगे को सुरक्षित रखने के लिए हमने खून के कतरे बहाए थे, उस झंडे का तुम कितना सम्मान रख पा रहे हो? या फिर वो भगतसिंह हमसे ये पूछें कि जिस देश को आजाद कराने के लिए मैं 24 साल की उम्र में फाँसी पर झूल गया, उसके गौरव को बनाए रखने के लिए तुम क्या कर रहे हो? या फिर हमारे अपने परमपूज्य गुरुदेव, श्रीराम मत्त के रूप में आएँ और हमसे पूछें—जिस झंडे को सीधा ताने रखने के लिए मैं आघातों को स्वयं पर झेल गया, उस झंडे का तुम सम्मान रख पा रहे हो या नहीं?

यदि हमारे हृदय में स्वाधीनता व राष्ट्रीयता की पुकार सच्ची होगी तो इन प्रश्नों का उत्तर देते समय हमारे चेहरे शरम से झुकने नहीं चाहिए। दु:खद यह है कि यदि इन प्रश्नों का उत्तर ईमानदारी से दिया जाए तो कई चेहरों का झुकना अनिवार्य हो जाएगा। ऐसा इसलिए; क्योंकि आज अनेक लोग राष्ट्रधर्म के निर्वहन को मात्र इतनी सतही बातों से जोड़कर बैठ गए हैं कि वो एक आडंबर तक ही सीमित रह गए हैं।

आज के दिन में अनेकों के लिए मात्र यह तमाशा आवश्यक हो गया है कि हमारे चेहरे पर तिरंगा पुता है या नहीं? चाहे उनके हृदय में राष्ट्रभक्ति का भाव जरा-सा भी न हो। राष्ट्रधर्म का निर्वहन वर्ष में एक बार जय-जयकार करके अपने-अपने घरों में घुस जाने से कहाँ नियत हो पाता है? कितना दु:खद है कि कई लोग इतना कर देने भर से अपने जीवन को उन शहीदों के समकक्ष समझने लग जाते हैं, जिनके रक्त की एक-एक बूँद से इस राष्ट्र की धरती नहाई हुई है।

आज हम स्वयं से यह प्रश्न पूछकर देखें कि यदि वो महान व्यक्तित्व दोबारा यहाँ लौटकर हमसे इन प्रश्नों को

पूछें तो हमारे मन में ग्लानि का भाव जन्म नहीं लेना चाहिए। यदि वो दोबारा आकर देखें कि आज किस राष्ट्रीय चरित्र को, किस राष्ट्रीय अस्मिता को, किस राष्ट्रीय स्वाभिमान को हम अंगीकार करके बैठे हैं तो दुःख बहुत होगा उनको। उनको दुःख होगा; क्योंकि आज राष्ट्रीय भाव कहीं सो गया है और यह सम्मान मात्र आडंबरप्रधान हो गया है।

ऐसे में एक प्रसुप्त राष्ट्रधर्म का जागरण आज के समय की सर्वोपरि आवश्यकता बन जाता है। इस पवित्र दिन उसी भाव को जगाना जरूरी है। आइए स्मरण करें राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर की पंक्तियों को—

कलम आज उनकी जय बोल।
जला अस्थियाँ बारी-बारी,
छिटकायीं जिनने चिनगारी।
जो चढ़ गए पुण्यवेदी पर,
लिए बिना गरदन का मोल।
कलम आज उनकी जय बोल॥
जो अगणित लघुदीप हमारे,
तूफानों में एक किनारे।
जल-जलकर बुझ गए,
किसी दिन माँगा नहीं स्नेह मुँह खोल।
कलम आज उनकी जय बोल॥
पीकर जिनकी लाल शिखाएँ,
उगल रही लू-लपट दिशाएँ।
जिनके सिंहनाद से सहमी,
धरती रही अभी तक डोल।
कलम आज उनकी जय बोल॥
अंधा चकाचौंध का मारा,
क्या जाने इतिहास बेचारा।
साक्षी हैं उनकी महिमा के,
सूर्य, चंद्र, भूगोल, खगोल।
कलम आज उनकी जय बोल॥

❑

बिहार के चंपारण में महात्मा गांधी किसानों का आंदोलन चला रहे थे। गोरे जमींदार सरकार की मदद से भारी जुल्म करते थे। एक बार एक जवान किसान जमींदार की लाठी से सिर फूट जाने से मर गया। वह अपनी बूढ़ी माँ का इकलौता बेटा था। उसकी माँ के दुःख की सीमा न रही।

वह महात्मा गांधी के पास आकर बोली—''मेरा इकलौता बच्चा चला गया। उसे किसी तरह जिंदा कर दीजिए।'' गांधी जी गंभीर होकर बोले—''माँ! मैं तुम्हारे बच्चे को कैसे जीवित करूँ ? मुझमें इतनी शक्ति नहीं। उसके बदले में मैं तुम्हें दूसरा बच्चा देता हूँ।'' यह कहकर गांधी जी ने उस बूढ़ी माँ के काँपते हाथ अपने सिर पर रख लिए और उस माँ से कहा—''लो लाठीचार्ज में गांधी मर गया और तुम्हारा लड़का जिंदा है और वह तुम्हारे सामने खड़ा तुम्हारा आशीर्वाद माँग रहा है।'' उस माँ ने बापू को अपनी बाँहों में ले लिया और प्यार से मेरा बापू कहकर उन्हें प्रेमभरा आशीर्वाद दिया कि सौ साल जियो।

अध्यात्म सुरदुर्लभ जीवन का अनमोल सौभाग्य

अध्यात्म के बिना मानव जीवन अधूरा है। तमाम सांसारिक उपलब्धियों, धन, ऐश्वर्य एवं सुख भोग के साधन भी अंतरात्मा की पिपासा को शांत नहीं कर सकते। बिना अध्यात्म के सब कुछ भौतिक होते हुए भी मानव जीवन में अधूरेपन की तड़प बनी रहती है। जीवन को समग्रता में जीने के लिए इसमें किसी रूप में अध्यात्म का समावेश करना पड़ता है।

प्रस्तुत है अध्यात्म के राजपथ की यात्रा का विहंगावलोकन करता एक वैचारिक दिग्दर्शन, जिसके आधार पर एक अभीप्सु साधक अपने जीवन में अध्यात्म तत्त्व का वरण कर सकता है।

इसका पहला घटक तो स्वस्थ शरीर है, जिस पर मानसिक स्वास्थ्य निर्भर करता है तथा यही प्रकारांतर में अध्यात्म-साधना का सबल आधार बनता है। अत: शरीर को यथासंभव स्वस्थ एवं नीरोग रखना हमारा पहला कर्त्तव्य बनता है। इसके लिए आहार से संबंधित मूलभूत नियमों का पालन करना पड़ता है।

क्या खाएँ, क्यों खाएँ, कब खाएँ, कितनी मात्रा में खाएँ, कैसे खाएँ, जैसे प्रश्नों के सही उत्तर हमारे पास होने चाहिए व इनका सजगता से हमें पालन भी करना चाहिए। आहार यथासंभव सात्त्विक एवं पौष्टिक तथा अपनी प्रकृति के अनुरूप रखना उचित रहता है। इसके साथ उचित विश्राम-नींद, व्यायाम एवं श्रम का अनुपान स्वस्थ शरीर के ठोस आधार साबित होते हैं।

शरीर के साथ इंद्रियों का निग्रह दूसरा कार्य है। शारीरिक स्वास्थ्य एवं मन के निग्रह का सीधा संबंध इंद्रियों से जुड़ा हुआ है। आहार में स्वादेंद्रिय मुख्य भूमिका निभाती है। स्वाद संयम में लापरवाही बरती गई, तो इसका खामियाजा नाना प्रकार के रोग, दुर्बलता व दु:ख-कष्टों के रूप में उठाना पड़ता है। इसी तरह दूसरी इंद्रियों के प्रति सजगता आवश्यक हो जाती है। स्वाद के साथ दृष्टि एवं जननेंद्रिय प्रमुख हैं। इन इंद्रियों से ग्रहण किए जा रहे संवेदन जीवन के उत्थान एवं पतन की भूमिका तय करते हैं।

अत: इंद्रियों से संवेदन को ग्रहण करते समय, एक साधक की सजगता एवं आत्मनिष्ठा के साथ जीवन के प्रलोभनों का सामना करना होता है, क्योंकि इस संदर्भ में बरती गई थोड़ी-सी भी लापरवाही के परिणाम गंभीर हो सकते हैं एवं जीवन में किसी बड़ी दुर्घटना के कारण बन सकते हैं।

आध्यात्मिक विकास में भावनात्मक संतुलन की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। इस संदर्भ में अपनी वाणी और व्यवहार को अनुशासित एवं संतुलित रखना होता है। वाणी ऐसी हो, जो दूसरों के लिए कल्याणकारी हो और स्वयं को भी शांति दे। गलती से भी कटु व अपशब्द न बोलें, यदि जाने-अनजाने में किसी का भाव आहत हुआ हो, तो उससे क्षमा माँगें।

वाचालता से बचें, जो भी बोलें, उसे सोच-समझकर बोलें तथा अपने व्यवहार को गरिमापूर्ण एवं संतुलित रखें। जीवन के तमाम द्वंद्वों के बीच यह प्रयास भावनात्मक तप का रूप लेता है। समय बीत जाता है, लेकिन बोले गए मधुर शब्द, दूसरों से किया गया आत्मीय बरताव तथा अपने सद्गुणों के संवर्द्धन के लिए किया गया पुरुषार्थ दीर्घकाल में आंतरिक शांति, बेहतर संबंध एवं आत्मिक विकास के रूप में फलित होते हैं।

अपने कार्यक्षेत्र में कर्त्तव्यनिष्ठा अध्यात्म पथ का एक और प्रमुख तत्त्व है। अपने परिवार के साथ अपने कार्यक्षेत्र एवं समाज से जुड़ी जिम्मेदारियों के प्रति कर्त्तव्यपालन में किसी तरह का प्रमाद न करें। इस कर्त्तव्यपरायणता को ही व्यापक अर्थों में धर्मधारणा की संज्ञा दी गई है। कर्त्तव्यपालन करते-करते व्यक्ति का नैतिक विकास होता है, प्रतिभा का संवर्द्धन होता है, अपने कार्यक्षेत्र में विशेषज्ञता स्तर की योग्यता का विकास होता है तथा अपने स्वधर्म के पालन का संतोष जीवन में सच्ची सफलता के साथ सार्थकता की अनुभूति देता है, जो स्वयं में जीवन की बड़ी उपलब्धि रहती है। बिना कर्त्तव्य के सम्यक पालन के अध्यात्म की उच्चतर कक्षा में प्रवेश की बात सोची भी नहीं जा सकती।

आस्तिकता अध्यात्म पथ का एक अहम घटक है। अस्तित्व के आध्यात्मिक सत्य के प्रति आस्था से व्यक्ति अपनी रुचि एवं स्वभाव के अनुकूल इष्ट का निर्धारण करता है। अभीप्सा की कसौटी पर कसने से गुरु का मार्गदर्शन भी उचित समय पर उपलब्ध हो जाता है। आस्तिकता का भाव परिपक्व होने के साथ आत्मिक आस्था भी बढ़ती है।

इस तरह आत्मजागरण व आत्मबोध के साथ अध्यात्म क्षेत्र में प्रवेश हो जाता है, जिसे इस जीवन का प्रमुख उद्देश्य एवं सबसे बड़ी उपलब्धि माना गया है। इसकी अनुभूति को नित्य रूप में और गहरा करने के लिए उपासना के पलों में भावभरे जप, ध्यान एवं भक्ति-भजन का सहारा लिया जा सकता है और दिन भर साधनामय जीवन का वरण करना होता है।

इस सबके साथ सेवा जीवन का अंग बनती है, जो आत्मविकास का एक प्रमुख आधार है। निष्काम कर्म के साथ चित्त शुद्धि का प्रयोजन सिद्ध होता है, ज्ञान का उदय होता है। प्रारंभिक अवस्था में व्यावहारिक जीवन में प्रतिदिन एक कर्म बिना किसी आशा-अपेक्षा के साथ करते हुए इसका अभ्यास किया जा सकता है।

अपने समय, अंश या प्रतिभा के एक अंश को समाज हित परमार्थ कार्य में नियोजित करने पर सेवा का प्रयोजन पूरा होता है। समाजरूपी ईश्वर के विराट स्वरूप की आराधना के साथ व्यक्ति की उपासना एवं साधना में गहराई आती है और साधक आत्मिक विकास की नई सीढ़ियों पर चढ़ता है।

आध्यात्मिक पथ पर श्रेष्ठ विचारों का अपना महत्त्व रहता है, जो साधक को सतत सन्मार्ग पर प्रेरित रखते हैं। स्वाध्याय इसकी आवश्यकता को पूरा करता है। इसके साथ सत्पुरुषों एवं सद्गुरु का सत्संग आत्मा को गहनतम स्तर पर पुष्ट करता है। स्वाध्याय-सत्संग से प्राप्त ज्ञानामृत पर चिंतन-मनन करते हुए ध्यान की गहराइयों में प्रवेश होता है।

इस तरह साधक की चित्तभूमि में धारण किए गए आध्यात्मिक विचार बीज प्रकारांतर में जीवन के रूपांतरण की पटकथा लिखते हैं और एक अर्थपूर्ण जीवन को संभव बनाते हैं। दीर्घकालीन स्वाध्याय व सत्संग की इसमें निर्णायक भूमिका रहती है, जिनकी एक नैष्ठिक साधक किसी भी रूप में उपेक्षा नहीं करता।

उपरोक्त सोपानों के साथ अंतर्वाणी के रूप में ईश्वर ने अपना प्रतिनिधि हर इनसान की हृदय गुहा में स्थापित किया है। उसके निर्देशों का सतत पालन करते हुए, उसके अनुशासन में स्वयं को कसते हुए हम परमात्मा के विधान को धारण करते हैं और सत्य से जुड़ते हैं। नित्यप्रति उपरोक्त कसौटियों पर स्वयं का मूल्यांकन तथा इन सूत्रों का अभ्यास साधक को अध्यात्म के राजपथ पर आरूढ़ करता है व तब इस सुरदुर्लभ मानव जीवन का अनमोल सौभाग्य समझ में आता है। ❑

कठोर तप के बाद एक तपस्वी को भगवान से दो असाधारण कलश प्राप्त हुए। पहला अमृत कलश था और दूसरा कलश शीतल जल से भरा था। अमृत कलश पाकर तपस्वी बहुत प्रसन्न था; क्योंकि इससे उसकी महत्त्वाकांक्षा पूर्ण होने वाली थी। तभी मार्ग से पक्षियों का एक समूह गुजरा। वह समूह प्यास से बेहाल था और व्याकुलता से पानी की तलाश कर रहा था। उन्होंने तपस्वी के पास कलशों को देखकर उनसे विनयपूर्वक जल की याचना की। तपस्वी ने अपने कलश के जल से उनकी प्यास बुझा दी। इससे तपस्वी को अत्यंत प्रसन्नता व आत्मिक संतोष हुआ। अब तपस्वी की अमृतपान कर स्वर्गप्राप्ति की महत्त्वाकांक्षा शांत हो चुकी थी। व्यथित प्राणियों की सेवा का संतोष स्वर्गप्राप्ति के आनंद से बढ़कर है।

ऐसे हुआ आचार्य शंकर को अद्वैत तत्त्व का ज्ञान

अपने गुरु गोविंदपाद जी की आज्ञा को शिरोधार्य कर आचार्य शंकर ने भगवान विश्वनाथ के दर्शन करने हेतु काशी के लिए प्रस्थान किया। नर्मदा जी के तट से महीनों पैदल चलकर वे काशी पहुँचे। काशी आकर भगवान विश्वनाथ का दर्शन करके वे अभिभूत हुए, आह्लादित हुए, आनंदित हुए। भगवान विश्वनाथ के दर्शन मात्र से उनके रोम-रोम पुलकित हो उठे।

भगवान के इस दिव्य दर्शन को उन्होंने अपने लिए अपने गुरु गोविंदपाद व भगवान विश्वनाथ की साक्षात् कृपा माना। उन्होंने मन-ही-मन अपने गुरु व भगवान विश्वनाथ को बारंबार प्रणाम किया। भगवान विश्वनाथ के दर्शन के उपरांत वे काशी के मणिकर्णिका घाट के समीप एक स्थान पर रहने लगे। यहाँ रहते हुए उन्होंने कुछ जिज्ञासु विद्यार्थियों को अद्वैत वेदांत की शिक्षा देना भी आरंभ किया।

आचार्य शंकर की अवस्था तब मात्र बारह वर्ष की थी, पर उनका असाधारण पांडित्य देखकर काशी की विद्वानमंडली चकित हो गई। उनके असाधारण पांडित्य व ज्ञान से अभिभूत हो कई विद्वान उनके शिष्य बनने लगे। ब्रह्मसूत्र का जो अर्थ आचार्य शंकर ने अपने गुरु गोविंदपाद से सुना था—उसी की व्याख्या वे नित्य अपने छात्रों के सामने करते रहे। आचार्य की विद्वत्ता से प्रभावित होकर अन्य अनेक छात्र भी उनसे अद्वैत वेदांत का ज्ञान ग्रहण करने लगे।

एक बार यहाँ एक विचित्र घटना घटी। दोपहर का समय था। आचार्य शंकर अपने विद्यार्थियों के साथ मध्याह्नकालीन पूजा-उपासना के लिए गंगातट पर जा रहे थे। तभी उन्होंने रास्ते में चार भयानक कुत्तों से घिरे हुए एक भयंकर व्यक्ति को देखा। वह व्यक्ति आचार्य शंकर का रास्ता रोककर खड़ा था।

आचार्य ने उसे रास्ते से दूर हट जाने के लिए कई बार कहा, पर रास्ते से हटने के स्थान पर वह बोला—"आप संन्यासी हैं। आप विद्यार्थियों को अद्वैत तत्त्व की शिक्षा देते हैं, परंतु आपका मुझे आपके रास्ते से दूर हट जाने को कहना यह सूचित करता है कि आपने अद्वैत का तत्त्व कुछ भी नहीं समझा है। जब इस जगत् का कोना-कोना उसी सच्चिदानंद परम ब्रह्म से व्याप्त हो रहा है, तब कौन किसे छोड़कर कहाँ जाए? कौन किसके रास्ते से दूर हटे? आपका ऐसा मानना भी तो आपका दुराग्रह ही है।" उस व्यक्ति के मुख से ज्ञान की ऐसी बातें सुनकर आचार्य के आश्चर्य का ठिकाना न रहा।

तब आचार्य शंकर ने अपने हृदय की भावना को स्पष्ट करते हुए कहा—"जो चैतन्य विष्णु, शिव आदि देवताओं में स्फुटित हो रहा है, वही कीड़े-मकोड़े जैसे क्षुद्र जानवरों में भी स्फुटित हो रहा है। उसी चैतन्य को जो अपना स्वरूप समझता हो ऐसा दृढ़ बुद्धिवाला पुरुष चाहे कोई भी हो, वह मेरा गुरु है। मैं उन्हें सादर नमन करता हूँ, वंदन करता हूँ।" दरअसल उस व्यक्ति के रूप में स्वयं भगवान शंकर आचार्य शंकर को अद्वैत तत्त्व का वास्तविक ज्ञान देने प्रकट हुए थे। इस प्रकार आचार्य की परीक्षा लेकर आचार्य के चिंतन में जो त्रुटि थी, उसे भगवान विश्वनाथ ने दूर कर दिया।

भगवान शिव आदिगुरु हैं। अस्तु अपने शिष्य आचार्य शंकर की त्रुटि को दूर कर वे आचार्य शंकर को अद्वैत तत्त्व का वास्तविक ज्ञान देने स्वयं प्रस्तुत हुए। तब उस समय उस व्यक्ति का रूप त्यागकर भगवान विश्वनाथ अपना दिव्य शरीर प्रकट करते हुए बोले—"वत्स शंकर! मैं तुमसे अतिशय प्रसन्न हूँ। मेरी इच्छा है कि तुम्हारे द्वारा वैदिक धर्म का प्रचार इस जगत् में संपन्न करूँ। तुम्हारे में किसी प्रकार की न्यूनता, कमी या त्रुटि होना उचित नहीं है। जाओ तुम व्यासकृत ब्रह्मसूत्र के ऊपर भाष्य की रचना करो। वेदांत का मुख्य तात्पर्य अद्वैत ब्रह्म का प्रतिपादन है, इसका सर्वत्र प्रचार करो। तुम्हारे इस शरीर से जो कार्य संपन्न होगा, उसे मेरा ही कार्य जानना। इतना कहकर भगवान शंकर अंतर्धान हो गए।

इस घटना से आचार्य के शिष्यगण बड़े ही विस्मित हुए। आचार्य शंकर शांत भाव से मणिकर्णिका घाट पर स्नान करने को चल पड़े। स्नान कर उन्होंने भगवान विश्वनाथ का

दर्शन किया। अद्वैत वेदांत, अद्वैत तत्त्व का वास्तविक ज्ञान देने के लिए उन्होंने भगवान विश्वनाथ के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट की।

भगवान विश्वनाथ ने मुझे अपने कार्य के लिए चुना है एवं वे मेरे द्वारा अपना कार्य संपन्न करना चाहते हैं। इससे परम सौभाग्य की बात भला मेरे लिए और क्या हो सकती है? यह सब मेरे गुरु गोविंदपाद और आदिगुरु भगवान शंकर, भगवान विश्वनाथ की मेरे ऊपर असीम कृपा ही तो है—ऐसा सोचकर मन-ही-मन भगवान विश्वनाथ को बारंबार प्रणाम करते हुए वे अपने स्थान पर लौट आए। अब शंकर के हृदय में ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य लिखने की इच्छा बलवती हो उठी।

उन्होंने यह विचार किया कि बदरीनाथ जाकर ही सूत्रभाष्य की रचना करूँगा। बदरिकाश्रम के पास ही व्यास गुफा है, जहाँ रहकर व्यास जी ने वेदांत सूत्रों का प्रणयन किया था। अस्तु जिस पवित्र वायुमंडल में सूत्रों की रचना की गई थी, उसी वायुमंडल को आचार्य शंकर ने उन सूत्रों के भाष्य की रचना के लिए भी उपयुक्त समझा। इसलिए उन्होंने अपनी शिष्यमंडली के साथ गंगा के किनारे-किनारे से होते हुए बदरिकाश्रम जाने का विचार किया और काशी से प्रस्थान कर गए। यदि आचार्य शंकर जैसी भगवद्भक्ति हो तो गोविंदपाद जैसे ब्रह्मवेता गुरु की प्राप्ति अवश्य ही होती है।

पिछले कई जन्मों में की गई तपश्चर्या व आध्यात्मिक साधनाओं के फलस्वरूप आचार्य शंकर में बाल्यावस्था में ही वैराग्य की भावना बलवती हो उठी थी। उनकी इस पात्रता के कारण ही तो उन्हें भगवत्कृपा से गोविंदपाद जैसे ब्रह्मवेत्ता गुरु की प्राप्ति हुई थी। ऐसे गुरु की प्राप्ति हो जाने पर भक्त, साधक न सिर्फ भगवद्दर्शन कर पाने में समर्थ होता है, बल्कि वह भगवत्कार्य संपन्न करने हेतु भगवान के हाथों का यंत्र बनने का सौभाग्य भी प्राप्त कर लेता है।

साधक के लिए, शिष्य के लिए, भक्त के लिए इससे बड़ा कोई और सौभाग्य हो ही नहीं सकता। यदि कई जन्मों तक निरंतर, अविराम, अविचल, अखंड साधना की जाए तो साधक को यह सौभाग्य, यह परम सौभाग्य प्राप्त होकर रहता है—इसमें कोई संशय नहीं, कोई संदेह नहीं। ❑

ऋषि आरुणि का पुत्र श्वेतकेतु गुरुकुल से शिक्षा ग्रहण करके जब लौटा तब उसके पिता को अनुभव हुआ कि पुत्र में कुछ अहंकार पैदा हो गया है। पुत्र ने कहा—"मैंने सब पढ़ लिया है।" पिता आरुणि बोले—"क्या तूने वह विद्या भी पढ़ ली है, जिसे जानकर-पढ़कर सब कुछ जान लिया जाता है?" पुत्र ने कहा—"वह तो मुझे मालूम नहीं।" आरुणि ने श्वेतकेतु को एक पात्र में जल लाकर उसमें नमक की डली डालने को कहा।

कुछ समय बाद आरुणि ने श्वेतकेतु से कहा—"पुत्र! पानी के पात्र में नमक की डली तुमने डाली थी, उसे निकालकर लाओ।" श्वेतकेतु को पानी में नमक की डली नहीं दिखाई दी; क्योंकि वह पानी में घुल चुकी थी। पिता आरुणि बोले—"जिस तरह जल में नमक की डली दिखाई नहीं देती, परंतु वह पानी में सर्वत्र व्याप्त है। उसी तरह हर पदार्थ में वह सत् तत्त्व भी व्याप्त है। उस सत् तत्त्व को जानने का प्रयत्न करो। उस सत्-चित्-आनंदरूपी परमेश्वर को जानने की विद्या ही सच्ची विद्या है।"

संबंधों में मधुरता का पर्व है-रक्षाबंधन

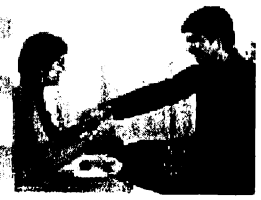

मानव ने अपने अस्तित्व के साथ अपनी सुरक्षा को सर्वोपरि माना है। सुरक्षा की पृष्ठभूमि पर उसने रिश्तों के उपहार को भी महत्त्वपूर्ण माना है, जिनके आश्रय में वह आनंदपूर्वक जीवन व्यतीत करता है। वर्ष में एक बार मनाए जाने वाले पर्व, त्योहार, उत्सव हमारे मानवीय संबंधों को सुरक्षित करते हैं।

प्राचीन मनीषियों ने ऋतुओं के अनुसार मानव की सुरक्षा का आकलन कर परंपरागत रूप में इन त्योहारों की तिथियाँ पहले से ही सुनिश्चित कर दी थीं। प्राचीनकाल में रक्षासूत्रों का एक गहरा संबंध ब्राह्मणों या पुरोहितों से भी रहा। ब्राह्मण जो ब्रह्म में रमा हो, ज्ञानवान हो, जो स्वयं सुरक्षित रहे और सुरक्षा का ज्ञान बाँटे। ब्राह्मण जाति से नहीं, कर्म से होता है।

उन दिनों पुरोहित लोग सावन माह में हरियाली उगाकर यज्ञ किया करते थे। जौ और गेहूँ को मिट्टी के पात्रों में उगाने का विधान था। उसी हरियाली को वे राजाओं को सौभाग्य रूप में दिया करते थे। राजा भी वह सौभाग्य आशीर्वाद रूप में ग्रहण करके पुरोहितों को मुद्रा देकर सम्मानपूर्वक विदा करते थे।

बदलते समय के साथ पुरोहितों ने रक्षासूत्र के साथ यजमानों की मंगलकामना करना प्रारंभ कर दिया। बहनों ने भी अपने सतीत्व की रक्षा हेतु भाइयों की कलाई पर राखीरूपी रक्षा का सूत्र बाँधना प्रारंभ कर दिया। इस तरह पुरोहितों का उत्सव भारत के प्रत्येक व्यक्ति में लोकप्रिय होता गया।

भारतीय आध्यात्मिक मनोवृत्ति ने प्रकृति से रिश्ता जोड़ा है। रक्षाबंधन का दिव्य संदेश कहीं हमें अपनों के स्नेह से जोड़ता है तो कहीं वह शिक्षा एवं संस्कृति का ज्ञान भी देता है। रक्षासूत्र का विस्तार हमें यह भी समझाता है कि मानव-का-मानव से आपसी सुरक्षा का महत्त्वपूर्ण नाता है। उसी विस्तृत भावनारूपी बेल पर मानवता आज भी पुष्पित और पल्लवित हो रही है। आपसी सौहार्द का अटूट संकल्प जहाँ बहन द्वारा भाई को राखी भेजकर भाईचारे एवं विश्वास को प्रोत्साहित करता है तो वहीं बहनों की सुरक्षा के लिए भाइयों से भी संकल्प निभाने का बोध कराता है।

आपसी विश्वास को पूर्ण करता श्रावणी का उत्सव सावन की हरियाली में बहनों द्वारा भाई को दिए आशीर्वाद का प्रगाढ़ रूप है, जिसमें मंगलकामना के साथ बहन का स्नेह छिपा है—वह भाई जो उसका शुभचिंतक है, जिसके समीप वह अपना हृदय खोल सकती है। सावन माह में वह हरे-भरे वातावरण में अपने पिता के घर को याद करती है और उन हिंडोलों को अपनी स्मृति में पुनः जीवित करती है, जिन पर उसका बचपन बीता था। उत्साहित मन से वह अपने भाई से प्रार्थना भी करती है कि इस रक्षाबंधन पर अपनी बहन को पिता के घर बुला लेना। हम सब मिलकर उत्सव मनाएँगे।

संबंधों की मजबूत परंपरा मानवता की संवाहक है, जिसका संदेश हमें पूर्णमासी की मधुर वेला में मनाया जाने वाला उत्सव ज्ञानमय तरीके से समझाता है। श्रावण मास की हरियाली के मनोरम वातावरण में संबंधों की मधुरता घोलने का कार्य उत्सव ही करते हैं। साथ ही इनकी सहजता में छिपा है—आपसी सुरक्षा का वह अनकहा संकल्प, जो उनकी सुरक्षा के दायित्व बोध को जाग्रत रखता है।

आधुनिक समय में परंपराओं को मनाने के तरीके भले ही पूँजीवादी हो चुके हैं, किंतु उन्हीं की सरलता ने आज सोच की पराकाष्ठा को भी जन्म दिया है। नारी प्रकृति का रूप है तो त्योहारों की मूल भावना को जिंदा रखने का भार भी उसी पर है। यह सही है कि आज की नारी सक्षम है, निर्णायक है, किंतु स्नेह करना और रिश्तों को सँजोना आज भी नारी की समझदारी पर आश्रित है। वर्तमान में वह अबला नहीं, सबला है, वह आज अपने भाई को भी आश्रय देने में पीछे नहीं है।

रक्षासूत्र हमें यही संदेश देता है कि मंगल के लिए मर्यादाओं का पालन जरूरी है। ब्राह्मणों के द्वारा यजमानों को रक्षा का सूत्र बाँधते समय जो मंत्र पढ़ा जाता है, वह भी यही बताता है कि जिससे राजा बलि को बाँधा (मर्यादित

और सीमित किया), उसी सलाह शुभ विचार से मैं तुम्हें भी बाँधता हूँ—जो तुम्हारी रक्षा करेगा। वैश्वीकरण ने आज ज्ञान का भंडार जन-जन तक उपलब्ध करा दिया है। आज ज्ञान का प्रसार सुगम है, किंतु मानवता नित्यप्रति लुप्त होती जा रही है। रिश्ते अस्वस्थ प्रतीत हो रहे हैं। आज के समय के रहन-सहन में प्राय: अपेक्षित परिवर्तन हुए हैं, किंतु आपसी विचारधारा में टकराहट भी बढ़ी है।

शहरीकरण एवं जीवनशैली के बदलाव ने रिश्तों को छिन्न-भिन्न किया है, किंतु त्योहारों का मूल संदेश एकता, भाईचारा बढ़ाने का है। आज भी वे वही संदेश देते हैं—जिसका आधार भी वही है कि सभी मिल-जुलकर रहें। मर्यादा वही सिखाती है, जो कभी प्राचीन या वैदिक था। कभी परंपरा थी तो कभी विचारणीय था; क्योंकि मानव का नाता मानवीय था और रहेगा। जीवनदायक तत्त्वों के साथ त्योहार, पर्व, उत्सव प्रत्येक को यही ज्ञान बाँटते रहेंगे।

रक्षाबंधन का पर्व आज भाई-बहन के संबंधों का पर्व बन गया है। भाई-बहन का संबंध पवित्र एवं निस्स्वार्थ संबंध है। संबंधों की सुरक्षा से बँधा पर्व का यह समीकरण रिश्तों की प्रतिबद्धता को सभी को स्मरण करवाता रहता है।

संबंधों में संतुलन, समन्वय, सामंजस्य का उत्सव रक्षाबंधन का पर्व है। बदलते समय के साथ रक्षासूत्र ने राखी नाम अपनाकर अपने स्वरूप में भी संकुचित मानसिकता अपना ली है।

कभी आपसी रिश्तों में मजबूती धर्म एवं संस्कृति के ज्ञान को बढ़ाने के लिए परंपरा मनाने की स्वस्थ मानसिकता थी तो वहीं आज यह मात्र धागा बाँधने की रस्म में बदल चुकी है।

संबंध भी एक हद तक ही स्वस्थ रहता है। अधिकतर का भाव रिश्तों को ढोना ही होता है और दिखावे की रस्म जल्दी ही खतम भी हो जाती है; क्योंकि हर संबंध साँस आने-जाने पर भी सुरक्षित रहता है।

यह सही है कि आज मल्टीनेशनल कंपनियाँ इतना अधिक सुख-सुविधा दे रही हैं कि उसकी आय से किसी को किसी की रक्षा की जरूरत नहीं है, सभी धन लगाकर अपनी रक्षा मुहैया करवा लेते हैं, किंतु परंपरा का स्वस्थ रूप हमेशा से मानवता की रक्षा का सूत्र है; जिसमें बँधे सभी रिश्ते अपनी-अपनी स्वस्थ मानसिकता के साथ फलते-फूलते रहते हैं।

रक्षाबंधन के इन पावन सूत्र सिद्धांतों को अपनाकर इस त्योहार को फिर जीवंत करना चाहिए। इसी प्रकार हम इस पर्व को सार्थक बना सकते हैं। ❑

विद्रुध अत्यंत पुण्यात्मा संत थे। जीवनपर्यंत उन्होंने दीन-हीनों की सेवा तथा प्राणिमात्र की भलाई ही की थी। इसलिए मरने पर उन्हें स्वर्ग में पहुँचाया गया। वहाँ चारों ओर उल्लास-ही-उल्लास, हँसी-खुशी व आमोद-प्रमोद का वातावरण था। कुछ दिनों तक तो विद्रुध को इस वातावरण में अच्छा लगा, पर जल्दी ही वे ऊबने लगे। एक दिन इंद्र ने उनसे पूछा—"आप दु:खी से प्रतीत होते हैं। आपको ऐसी किस वस्तु की आवश्यकता है, जो आपको यहाँ नहीं मिल सकी?" विद्रुध बोले—"मैं वापस पृथ्वी पर जाकर दीन-हीनों की सेवा व परोपकार करना चाहता हूँ।" उनकी यह बात सुनकर इंद्र सहित समस्त देवता विद्रुध के समक्ष श्रद्धावनत् हो गए। विद्रुध पृथ्वी पर लौट आए और पुन: दीन-हीन प्राणियों की सेवा में संलग्न हो गए। धन्य हैं ऐसे संत और उनकी परोपकार की भावना।

ऐसी वाणी बोलिए

वाणी मानव जीवन को महिमा और गरिमा से समन्वित करती है और वाणी ही मनुष्य को उसके जीवन की महिमा और गरिमा से विहीन कर देती है। बात सिर्फ इतनी है कि वाणी में, गुणों की गुड़-सी मिठास है अथवा इसमें दोषों का तीखापन और खारापन भरा है। जीवन-विद्या की विधा एवं संवाद कौशल की विशेषता को समझना हो तो वाणी के गुण और दोष भी हमें समझने होंगे।

वाणी की कुशलता हमें हमारे जीवन में सफलता का पथ प्रदर्शित करती है और इसमें निहित दोषों से सफलता अक्सर विफलता के गहरे अँधेरों में समा जाती है। जीवन के सामान्य क्रम के अलावा साधनात्मक जीवन में आध्यात्मिक पथ पर अग्रसर होने के लिए शास्त्रकारों ने वाणी कौशल के कई सूत्र सुझाए हैं। इन्हीं में से एक सूत्र का विवरण कुछ ऐसा है—

श्रीमद्भगवद्गीता के 17वें अध्याय के 15वें श्लोक में वाणी संबंधी तप के बारे में भगवान द्वारा कहा गया है—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥

उद्वेग न करने वाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण (मन और इंद्रियों द्वारा जैसा अनुभव किया हो, ठीक वैसा ही कहने का नाम यथार्थ भाषण) है तथा जो वेद-शास्त्रों के पठन का एवं परमेश्वर के नाम-जप का अभ्यास है—वही वाणी संबंधी तप कहा जाता है।

अर्थात ऐसी वाणी जिसमें प्रिय, हितकारक व यथार्थ भाषण हो, उद्वेग न हो और वेद-शास्त्रों के पठन व परमेश्वर के नाम-जप का अभ्यास हो, वह वाणी तप से युक्त है और प्रभावी है।

अत: परमेश्वर के नाम जप से, मंत्रों के जप से व तप से वाणी शुद्ध होती है और सिद्ध होती है, तो वहीं झूठे वचन कहने से, दुर्वचन कहने से, दूसरों को अपनी वाणी से आहत करने से वाणी अशुद्ध व अपवित्र होती है और उसकी महत्ता व प्रामाणिकता विनष्ट होती है।

अत: वाणी ऐसी हो, जो प्रिय हो, हितकारक हो। इसलिए दूसरों से अपने वचन तभी कहो, जब उसे बोलने से किसी का कुछ हित होने वाला हो, अन्यथा मत बोलो और जिस ढंग से बोलो, वह ढंग, वह तरीका प्रीतिकर हो, रुचिकर हो; क्योंकि कड़ुआ सत्य भी इस तरह से बोला जा सकता है, जैसे कोई किसी को गाली दे रहा हो।

यदि कोई व्यक्ति अंधा है, तो उसे अंधा कहकर पुकारना असत्य नहीं है, लेकिन यह कड़ुआ सत्य है और एक प्रकार से यह दूसरों पर वाणी से किया जाने वाला तीखा प्रहार है, लेकिन यदि उसे सूरदास कहकर पुकारा जाए, तो उसमें एक वाणी का माधुर्य है। इस प्रकार वाणी का प्रयोग सत्य का ऐसा उपयोग है, जो कटु सत्य को प्रिय वाणी का रूप देता है।

अगर हम वाणी द्वारा सत्य कहकर दूसरों पर पत्थर फेंकने के समान चोट करते हैं, तो उससे किसी का हित नहीं होता, इसलिए संवेदनशील बनकर अपनी वाणी से वही कहना चाहिए, जो दूसरों के लिए प्रीतिकर हो। इसका अर्थ यह नहीं है कि दूसरों से रुचिकर, प्रीतिकर कहने के लिए झूठ बोला जाए। इसीलिए भगवान श्रीकृष्ण बोलने में यह सीमा निर्धारित करते हैं कि वह बोलो, जो उद्वेग को पैदा न करे, जो प्रिय हो, जो हितकारक हो, यथार्थ हो और सत्य हो।

यहाँ पर प्रिय बोलने का अर्थ यह नहीं है कि दूसरों की झूठी प्रशंसा की जाए, जिससे उनको खूब आनंद आए; जैसे—सामने वाले व्यक्ति को यह पता है कि वह सुंदर नहीं है, लेकिन उससे यह कहा जाए कि तुम परम सुंदर हो, तुम्हारे जैसा कोई अन्य व्यक्ति हमने कहीं नहीं देखा, तो इस तरह झूठ बोलने का कोई प्रयोजन नहीं है, इसके बदले उसके उन गुणों की प्रशंसा की जा सकती है, जो उसमें यथार्थ में हैं, इससे उसका मनोबल बढ़ेगा और वह अपने पर गर्व भी करेगा, लेकिन यदि उसकी झूठी प्रशंसा की जाए और वह उसे मान भी ले, तो उससे उसका केवल अहंकार बढ़ेगा।

भगवान श्रीकृष्ण 17वें अध्याय के 15वें श्लोक में यह भी कहते हैं कि जिससे स्वाध्याय का अभ्यास हो, वही बात बोलो; यानी जिन शब्दों के बोलने से तुम्हारे स्वयं के अध्ययन में, स्वयं के निरीक्षण में गति आए, वही बोलो। बोलने में यह ख्याल रखना जरूरी है कि किसी से यदि कुछ बोला जाए, तो उससे आप बेहोश होने के समान कुछ भी बोलते मत जाओ, बल्कि होश के साथ, पूरी जाग्रति के साथ बोलो, जो आप बोल रहे हो।

किसी से कुछ भी बोलने में यह ध्यान देना चाहिए कि कहीं कुछ ऐसा तो नहीं है कि मन में कचरा भरा है और उसे खाली करने के लिए बोला जा रहा है, वाणी द्वारा मन के कचरे का रेचन किया जा रहा है, वमन किया जा रहा है। इसलिए यह प्रश्न स्वयं से बार-बार करना जरूरी है कि मैं आखिर ऐसा क्यों बोल रहा हूँ, क्या बोल रहा हूँ?

जब कोई व्यक्ति बिना किसी प्रयोजन के दूसरों से बोलता ही चला जाता है, जबरदस्ती अपनी बात सुनाना चाहता है, और दूसरा व्यक्ति जो उसकी बात सुनना नहीं चाहता, बल्कि वहाँ से वह जाना चाहता है, तो जबरदस्ती किसी को अपनी बात सुनाना, अपनी वाणी से गाली-गलौज करना, शब्दों द्वारा दूसरों पर तीखा प्रहार करना, अपशब्द कहना—ये सब वाणी संबंधी अनाचार हैं, जिनका प्रयोग मनुष्य को नहीं करना चाहिए, इससे वाणी का प्रभाव क्षीण होता है, उसकी प्रामाणिकता न्यून होती है; जबकि वाणी के तप का अभ्यास करने से वाणी की क्षमता व प्रामाणिकता दोनों बढ़ते हैं।

सामान्य मनुष्य की वाणी में गुणों के साथ दोषों की भी संभावना रहती है। शास्त्र, संत, विद्वान और ज्ञानीजन कहते हैं कि वाणी की प्रेरिका बुद्धि है। इस क्रम में सामान्य वाणी के 18 दोष कहे गए हैं।

पहला दोष है—अपेतार्थ (निरर्थक शब्दजाल) अर्थात निरर्थक वाणी बोलना।

दूसरा दोष है—अनेक वाक्यों में एक ही भाव को बार-बार दोहराते चले जाना।

तीसरा दोष है—अशुद्ध-अश्लील वाणी का प्रयोग।

चौथा दोष है—आवश्यकता से अधिक कहना ।

पाँचवाँ दोष है—बहुत विस्तार से कहना।

छठा दोष है—कटु वचन कहना।

सातवाँ दोष है—संदिग्ध वाणी में कहना।

आठवाँ दोष है—दीर्घांत पदोच्चारण करना।

नवाँ दोष है—श्रोता से मुँह फेरकर बोलना।

दसवाँ दोष है—असत्य बोलना।

ग्यारहवाँ दोष है—त्रिवर्ग के अथवा चतुर्वर्ग (अर्थ-धर्म-काम-मोक्ष) के विरुद्ध बोलना।

बारहवाँ दोष है—कर्णकटु यानी कड़ुए शब्दों का वार्त्तालाप में प्रयोग करना।

तेरहवाँ दोष है—कठिनता से उच्चारण करने योग्य शब्दों को कहना।

चौदहवाँ दोष है—उलटे-पलटे ढंग से यानी विपर्यस्त क्रम में अपनी बात कहना।

पंद्रहवाँ दोष है—अत्यंत न्यून अर्थात आवश्यकता से बहुत कम में कहने की चेष्टा करना, जिससे श्रोता कुछ समझ ही न पाए, ऐसी वाणी बोलना।

सोलहवाँ दोष है—अकारण यानी बिना किसी कारण के ही बोलना।

सत्रहवाँ दोष है—निष्प्रयोजन यानी बिना किसी उद्देश्य के ही बोलना, एवं

अठारहवाँ दोष है—अनर्गल वाणी का प्रयोग करना—ये वाणी के 18 दोष कहे गए हैं।

पुनः आगे कहा गया है कि 1. काम, 2. क्रोध, 3. लोभ, 4. भय, 5. दैन्य, 6. अनार्यता, 7. हीनता, 8. गर्व एवं 9. दया से गद्गद होकर बोलना—ये नौ दुर्बुद्धिजन्य वाक्य दोष हैं।

श्रोता या वक्ता इन दोनों में से ही किसी के भी कपटपूर्वक भाषण करने से यथार्थ बात छिपी ही रह जाती है। अतः शुद्ध रीति से अंतर्हृदय की बात कहना ही उचित है।

इसके अतिरिक्त अन्य ग्रंथों में, जो वाणी के गुण कहे गए हैं; वो इस प्रकार हैं—श्लेष, प्रसाद, समता, मधुरता, सौकुमार्य, अर्थ की सुस्पष्टता, कांति, उदारता, उदात्तता, ओज, ऊर्जस्वलता, प्रियता, श्रेष्ठ शब्द, समाधि, सूक्ष्मता, गंभीरता, अर्थ की व्यापकता, संक्षेप में बहुत कहने की शैली, भाविकता, गति, रीति, उक्ति एवं प्रौढ़ि—ये वाणियों के गुण हैं।

ऊपर कही गई इन पंक्तियों में वाणी के गुणों की भी चर्चा हुई और इसके दोष भी गिनाए गए। सूझ-बूझ और समझदारी हमारी अपनी है कि हम अपनी वाणी की कुशलता को किस तरह परिमार्जित व विकसित करते हैं।

जीवन के सामान्य क्रम में दैनिक जीवन में कई बार ऐसे अवसर आते हैं, जहाँ हमें केवल हमारी वाणी के आधार पर जाँचा-परखा जाता है। उसी आधार पर हमें पात्र और प्रामाणिक माना जाता है तो कभी अपात्र और अप्रामाणिक कहकर दरकिनार कर दिया जाता है। साक्षात्कार, समूह-विमर्श, किसी विशेष अवसर पर विषय का प्रस्तुतीकरण आदि ऐसे ही अवसर हैं।

इसके लिए इन दिनों संवाद कुशलता का विशेष प्रशिक्षण भी होने लगा है। अपने शास्त्रकारों ने इन सूत्रों को पहले से ही समझाने का प्रयास किया है। अच्छा यही है कि हम इन सूत्रों को अपने जीवन के नवीन परिप्रेक्ष्य व परिदृश्य में जानने-समझने का प्रयास करें। निश्चित ही हमारी विफलताएँ सफलताओं में बदलेंगी तथा हमारे व्यक्तित्व की चमक और भी निखरेगी। ❑

जर्मनी के डुसलडर्फ नगर में बच्चों के एक चिकित्सक डॉ. फिट्ज टालबोट रहा करते थे। उनकी ख्याति दूर-दूर तक थी। उनके यहाँ जब भी कोई असाध्य रोग का इलाज कराने आता और उस बच्चे पर कोई दवा काम न करती प्रतीत होती तो वे एक परची पर कुछ लिखकर अपने अस्पताल की सबसे पुरानी नर्स को दे देते। नर्स उस पर लिखे निर्देश का पालन करती और आश्चर्यजनक रूप से वह बच्चा स्वस्थ हो जाता था। अस्पताल के अन्य चिकित्सकों के मन में उस गुप्त दवा को जानने की बड़ी उत्सुकता थी।

एक दिन जब उन्होंने नर्स को डॉक्टर टालबोट की लिखी परची ले जाते देखा तो उन्होंने उसके हाथ से वह परची ले ली। उन्हें यह पढ़कर बड़ा आश्चर्य हुआ कि उस कागज पर डॉ. टालबोट ने मात्र दो शब्द लिखे थे और वह थे—दादी माँ। यह पढ़कर चिकित्सकों की उत्सुकता और बढ़ गई। नर्स उनकी उत्सुकता समझ गई और उन्हें एक कमरे में ले गई, जहाँ एक बूढ़ी महिला बैठी हुई थी। जिस बच्चे के लिए डॉ. टालबोट ने वह परची लिखी थी, वह बूढ़ी महिला उस बच्चे को अपनी गोद में प्यार से चिपकाकर बैठी थी।

नर्स उन चिकित्सकों को यह दृश्य दिखाकर बोली—"जब किसी बच्चे पर कोई दवा काम नहीं करती तो डॉ. टालबोट उसे यहाँ भेजते हैं। यह बूढ़ी माँ इन बच्चों को उनकी अपनी दादी की तरह प्यार देती हैं और यही प्यार उस बच्चे का जीवन बचा लेता है।" सही ही है कि भावनाएँ सच्ची हों तो दुनिया के सारे रोग भाग जाते हैं।

अंतर्यात्रा से आनंद की ओर

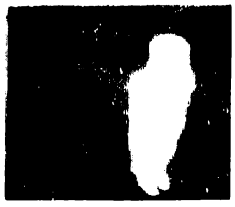

भौतिक जीवन और आध्यात्मिक जीवन में श्रेष्ठ क्या है ? भौतिक जीवन की सीमाएँ क्या हैं ? आध्यात्मिक जीवन को ही पूर्ण जीवन क्यों कहते हैं ? बाह्य यात्रा क्या है ? अंतर्यात्रा क्या है ? बाह्य यात्रा और अंतर्यात्रा का अंतिम पड़ाव व निष्कर्ष क्या है ? ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं, जिन पर हर विचारशील व्यक्ति को विचार करना ही चाहिए।

बाह्य यात्रा दरअसल संसार की यात्रा है। यह वह यात्रा है, जिसमें व्यक्ति अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विविध प्रकार के कार्य-व्यापार, उद्यम आदि करता है। वह शरीर-सुख, भौतिक सुख हेतु विविध प्रकार के साधन जुटाता है। इस यात्रा में वह पेट, प्रजनन, परिवार की आवश्यकताओं की चिंता करता है और तदनुरूप आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।

इस यात्रा में व्यक्ति कभी अच्छे कर्म कर लेता है तो कभी बुरे कर्म करता है, पर कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं, जो सिर्फ बुरे ही कर्म करते हैं। ऐसे लोग प्राय: अनीति, अत्याचार, अनाचार, भ्रष्टाचार, बेईमानी, हिंसा आदि कर्मों में लिप्त रहते हुए ही अपनी जिंदगी समाप्त कर लेते हैं। यही भौतिक जीवन है। यही भौतिक जीवन की सीमाएँ हैं। इसलिए भौतिक जीवन को एकांगी और अधूरा जीवन माना जाता है। मात्र देह के लिए जिया गया जीवन ही भौतिक जीवन है।

इस प्रकार हमारी बाह्य यात्रा हमारे भौतिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करने तक ही सीमित रह जाती है। इस अंतर्यात्रा में इस भौतिक जीवन में फलासक्ति व कर्त्तापन की भावना से प्रेरित कर्म करने के कारण लोग कर्मों से मिलने वाले अच्छे-बुरे फलों के प्रति अत्यधिक आशंकित व चिंतित होते हैं।

परिणामस्वरूप उनकी एकाग्रता, कार्यकुशलता, कार्यक्षमता प्रभावित होती है और वे जीवन में असफल होते हैं। उनकी असफलता उन्हें अंदर से इस कदर तोड़ डालती है कि वे कोई बड़ा पुरुषार्थ नहीं कर पाते हैं। आशा के अनुरूप कर्मफल मिलने पर वे हर्ष में डूब जाते हैं तो आशा के विपरीत कर्मफल प्राप्त होने पर वे घोर निराशा में डूब जाते हैं।

संसारी लोग मान-सम्मान मिलते ही गर्व से फूल उठते हैं और अपमान पाते ही मूर्च्छित होकर गिर पड़ते हैं। अधिकांशत: बुरे कर्मों में लिप्त रहने के कारण ऐसे लोग बुरे कर्मों से मिलने वाले दुष्परिणाम की चिंता में डूबे हुए व भय से भरे हुए होते हैं। उनके द्वारा किए गए बुरे कर्म उन्हें हमेशा डराते और भयभीत करते हैं।

कुछ लोग अपने प्रारब्धजन्य बुरे कर्मों के परिणामस्वरूप सुख-साधनों से हीन होकर अभावों व कष्टों भरा जीवन जीते हैं तो वहीं कुछ लोग अपने प्रारब्धजन्य अच्छे कर्मों के परिणामस्वरूप भौतिक सुख-साधनों के बीच ऐशोआराम की जिंदगी जीते हैं, पर फिर भी उन्हें कभी वास्तविक सुख, शांति प्राप्त नहीं होते। उनके अंदर सदैव अतृप्ति बनी रहती है। उनके अंदर एक खालीपन हमेशा बना रहता है। उन्हें इंद्रियजन्य सुख प्राप्त तो होते हैं, पर आत्मसंतोष, आत्मिक आनंद से वे सर्वथा वंचित ही रह जाते हैं।

इस प्रकार ऐसे लोगों का जीवन मान-अपमान, सुख-दु:ख, हर्ष-विषाद आदि मिश्रित भावों से भरा हुआ होता है। बाह्य यात्रा में व्यक्ति का जीवन हताशा, निराशा, कुंठा, अवसाद, ग्लानि, कष्ट-क्लेश आदि से भरा हुआ होता है। अंतत: जीवन की संधिवेला आ जाती है और व्यक्ति को इस संसार से बिलखता हुआ विदा होना पड़ता है। यही बाह्य यात्रा यानी सांसारिक जीवन, भौतिक जीवन का निष्कर्ष है, परिणाम है, पड़ाव है।

मात्र भौतिक जीवन अर्थात देहपरायण जीवन जीने के कारण व्यक्ति जन्म-मरण के बंधन से कभी मुक्त नहीं हो पाता, पर अंतर्यात्रा, बाह्य यात्रा से, भौतिक जीवन से, संसारी जीवन से बिलकुल ही अलग है। अंतर्यात्रा में व्यक्ति होता या रहता तो इसी संसार में है, पर उसका जीवन संसारी जीवन जीने वाले लोगों से भिन्न रहता है। वह रहता तो इसी संसार में है, पर संसार से, संसार की आसक्ति से वह वैसे

ही अछूता रहता है, अप्रभावित रहता है, जैसे जल में कमल रहता है। अंतर्यात्रा अपने अंदर की यात्रा है। बाह्य यात्रा में तो व्यक्ति बाहर-ही-बाहर देखता फिरता है। वह भौतिक सुख, भोग प्राप्त करने के साधन जुटाता है।

इसके विपरीत अंतर्यात्रा एक अद्‌भुत यात्रा है, जिसमें कठोपनिषद् (2.1.1) के अनुसार 'अमृतत्व की आकांक्षा रखने वाला साधक अपनी इंद्रियों को रोककर अपनी आत्मा की ओर देखता है।' वह अपनी आत्मा में झाँकता है। वह अपने भीतर प्रवेश करता है। वह अपने भीतर चलता है। वह अपने अंदर निहारता है। वह रहता तो इसी बाह्य संसार में है, पर वह बाह्य संसार की बहुविध आसक्तियों, आकर्षणों से विमुख होकर अपने मन की आँखों से अपनी आत्मा को देखता है, निहारता है। ज्ञान, कर्म, भक्ति, ध्यान के निरंतर अभ्यास से जैसे-जैसे मन की मलिनता मिटती जाती है, वैसे-वैसे ही उसके मन की एकाग्रता बढ़ती जाती है।

पूर्ण एकाग्रता प्राप्त हो जाने के बाद एक बात दिन के प्रकाश के समान साधक के सामने स्पष्ट हो जाती है कि मैं शरीर नहीं हूँ। मैं शरीर से भिन्न हूँ। मैं मन, बुद्धि, इंद्रियाँ भी नहीं हूँ। मैं मन, बुद्धि, इंद्रियों से भी परे हूँ। मैं एक ऐसा अमर तत्त्व हूँ जो सतत एकरस है, समान है। उसमें कोई परिवर्तन नहीं हो रहा है, वरन वह तो सभी परिवर्तनों का शाश्वत साक्षी आत्मा है, जो अचल, अटल व स्थिर है। वह तो द्रष्टा है, जो दृश्य जगत् में हर पल हो रहे परिवर्तनों को द्रष्टा भाव से, साक्षी भाव से देख रहा है।

यह वह अवस्था है, जिसमें अंदर और बाहर दोनों संसार इस शाश्वत चैतन्य साक्षी में निमज्जित होकर विलीन हो जाते हैं। तब केवल द्रष्टा-शाश्वत साक्षी ही अखंड रूप में विराजमान रहता है। शाश्वत अखंड मौन ही इसकी अभिव्यक्ति है। इसी अवस्था में साधक अपनी आत्मा में परमात्मा की अनुभूति करता है। वह परमात्मा के परम प्रेम, परम आनंद, परम सत्य, परम ज्ञान की अनुभूति करता है।

पर हाँ! इस अंतर्यात्रा के प्रारंभ में हमारा परिचय हमारे अचेतन मन में व्याप्त अच्छे-बुरे कर्म संस्कारों से भी होता है। हम अपने गुण-दोषों से परिचित होने लगते हैं। हम अपने वर्तमान जीवन पर, वर्तमान जीवन के हर कर्म पर दृष्टिपात करते हैं। दीर्घकाल तक निरंतर इस साधना का अभ्यास करते रहने पर साधक को यह विदित होने लगता है कि हमारे भीतर का संसार ही, हमारे अचेतन के संस्कार ही हमारे बाहर के संसार के रूप में हमारे सामने प्रकट होते हैं।

हमारा भीतरी संसार ही हमारे बाहरी संसार का सृजन और विनाश करता है। हमारा भीतरी संसार जितना सुव्यवस्थित, सुंदर और आनंदमय होता है, हमारा बाहर का संसार भी उतना ही सुव्यवस्थित, सुंदर और आनंदमय होता है। ऐसा तभी संभव हो पाता है, जब निरंतर ज्ञान, कर्म, भक्ति, ध्यान, स्वाध्याय, सेवा के द्वारा हमारे अचेतन का पूर्णत: परिष्कार हो चुका होता है। हमारा अचेतन पूर्णत: संस्कारशून्य हो चुका होता है।

जब तक अचेतन संस्कारशून्य नहीं हुआ, तब तक अचेतन के प्रभाव में आकर हम तदनुरूप अच्छे-बुरे कर्म करते जाते हैं और स्वयं को कर्म संस्कारों की रस्सी में जकड़ा हुआ पाते हैं, पर अचेतन के संस्कारशून्य होते ही यह रस्सी जल जाती है, बिखर जाती है और हम बंधनमुक्त होकर आनंदित हो जाते हैं। हमारे हर कर्म अकर्म होने लगते हैं। हम आशा-निराशा, हर्ष-विषाद, मान-अपमान, लाभ-हानि आदि से परे होकर, अप्रभावित होकर सदा आनंद की अनुभूति करते हैं; क्योंकि निरंतर अंतर्यात्रा से मन, बुद्धि, इंद्रियों से परे होकर, ऊपर होकर तब हम चेतनता अनुभव करते हैं।

1 जनवरी, 1886 को कोलकाता के काशीपुर उद्यान में श्रीरामकृष्ण परमहंस देव ने भावमग्न होकर भक्तों को आशीर्वाद दिया था—'तुम लोग चैतन्यवान बनो।' चैतन्यवान बनना अर्थात अपने अंत:करण में अवस्थित चैतन्य सत्ता का अनुभव कर लेना। यह जान लेना कि मैं हाड़-मांस की देह मात्र नहीं हूँ। मैं तो इस देह में अवस्थित आत्मा ही हूँ। मैं तो परमात्मा का दिव्य अंश—अजर, अमर, अविनाशी आत्मा हूँ। सत्य, प्रेम, आनंद ही मेरा सच्चा स्वरूप है। सत्य, प्रेम व आनंद पर मेरा पूर्ण अधिकार है।

इस प्रकार इस चैतन्य सत्ता की अनुभूति होते ही व्यक्ति भीतर से आमूलचूल बदल जाता है। तब मात्र बाह्य यात्रा, संसारी यात्रा, भौतिक यात्रा में डूबे साधारण व्यक्ति को विषयभोगों का आकर्षण दिखाकर उसे नचाने वाला यह जड़ जगत् उसे किसी भी प्रकार आकर्षित, प्रभावित व प्रलोभित नहीं कर पाता।

ऐसी अनुभूति प्राप्त कर लेने वाले व्यक्ति के लिए यह जगत् परमात्मा की लीला और क्रीड़ास्थली हो जाता है,

जिसमें परमात्मा के साथ रमण करता हुआ वह आनंदविभोर हो धन्य हो जाता है। इसे ही अद्वैत अनुभूति कहते हैं। यही आध्यात्मिक जीवन में पूर्णता की अनुभूति है। उपनिषद् ने इसे ही '**पूर्णमदः पूर्णमिदम्**' कहा है अर्थात वह भी पूर्ण है, यह भी पूर्ण है। बाहर-भीतर सर्वत्र पूर्णता ही है। इस स्थिति की अनुभूति ही परिपूर्णता है, परम सुख है, परम आनंद है। यही आध्यात्मिक जीवन का परम गंतव्य है। यही अंतर्यात्रा का परम पड़ाव है। यही अंतर्यात्रा का परम निष्कर्ष है, परिणाम है, परिणति है और जीवन की पूर्णता भी यही है। निस्संदेह अंतर्यात्रा में साधक को भौतिक सुख, समृद्धि, शांति की प्राप्ति के साथ-साथ आध्यात्मिक आनंद, मोक्ष, मुक्ति आदि भी हस्तगत हो जाते हैं। अस्तु अंतर्यात्रा निस्संदेह आनंद, परम आनंद पाने की यात्रा है। अमृतत्व व आनंद पाने की आकांक्षा रखने वाले हर साधक को अंतर्यात्रा पर निकल ही पड़ना चाहिए। ❑

कृष्णभक्तों में एक कथा प्रचलित है। एक गरीब ब्राह्मण बाँकेबिहारी का भक्त था। एक बार उसने किसी महाजन से कुछ रुपये उधार लिए। हर महीने वह थोड़ा-थोड़ा करके ऋण चुकाता था। अंतिम किस्त के पहले महाजन ने उसे अदालती नोटिस भिजवा दिया कि उधार बकाया है और कहलवा दिया कि पूरी रकम व ब्याज वापस करे। ब्राह्मण परेशान हो गया। उसने महाजन के पास जाकर बहुत सफाई दी, पर कोई असर नहीं हुआ। मामला अदालत में पहुँचा। अदालत में भी ब्राह्मण ने न्यायाधीश से यही कहा कि मैंने सारा पैसा चुका दिया है।

न्यायाधीश ने पूछा—"क्या कोई गवाह है, जिसके सामने तुमने महाजन का पैसा चुकाया था?" कुछ सोचकर उसने बिहारी जी के मंदिर का पता बता दिया। अदालत ने मंदिर के पते पर नोटिस जारी कर दिया। वह नोटिस बिहारी जी के सामने रख दिया गया। अगली गवाही के दिन एक बूढ़ा आदमी न्यायाधीश के समक्ष गवाह के तौर पर पेश हुआ। उसने कहा—"रुपये देते वक्त मैं साथ था और इस-इस तारीख को रकम अदा की गई थी।" न्यायाधीश ने सेठ का बहीखाता देखा तो गवाही सही निकली। रकम जमा थी, नाम फर्जी था। न्यायाधीश ने ब्राह्मण को निर्दोष करार दिया, लेकिन न्यायाधीश के मन में यह उथल-पुथल थी कि आखिर वह गवाह था कौन? उसने ब्राह्मण से पूछा। ब्राह्मण ने कहा—"बिहारी जी के सिवा कौन हो सकता है।" इस घटना ने न्यायाधीश को इतना विभोर कर दिया कि वे इस्तीफा देकर घर-परिवार छोड़कर साधु बन गए।

सिद्धांतों से समझौता न करें

जीवन का अपना सिद्धांत होता है, मूल्य होता है। इस सिद्धांत के कारण ही सामान्य इनसान में दिव्य गुण विकसित होते हैं। मूल्यों के अभाव में इनसान पशुतुल्य हो जाता है। प्रत्येक परमाणु, अणु और तत्त्व से लेकर जड़-चेतन आदि सभी के अपने-अपने सिद्धांत हैं। इन्हीं सिद्धांतों के कारण ही वे अपनी मौलिकता को बरकरार रखते हुए अपना प्रभाव दिखाते हैं और अपना अस्तित्व व औचित्य सिद्ध कर सकने की एक प्रभावशाली सामर्थ्य रखते हैं।

यही वजह है कि इनसानों को छोड़कर किसी भी प्राणी, वस्तु, तत्त्व या मिश्रण के गुण-धर्म और उसके प्रभावों की शत-प्रतिशत सत्य एवं सटीक व्याख्या की जा सकती है। एक इनसान ही इस धरती पर ऐसा जीव है, जो पैदा होने से लेकर केवल समझदार होने तक अपनी आत्मस्थिति और मौलिकता में शुद्ध-बुद्ध रहता है और इनसानी खाल एवं खोल में बना रहता है।

जरा-सा समझदार हो जाने के बाद वह जीवन भर के लिए इनसानियत से मुक्त हो जाता है और कहीं भी कुछ भी करने-करवाने की स्थिति में आ जाता है। जैसे-जैसे वह संसार में आसक्त होने लगता है; वैसे-वैसे उसके भीतर का मनुष्यत्व पलायन करने लगता है, मौलिकता का क्षरण शुरू हो जाता है, मानवता के क्षरण के सारे रास्ते खुल जाते हैं और उसकी जगह उसके भीतर वह सब कुछ भरना शुरू हो जाता है, जिसे इनसानियत का धुर विरोधी माना जाता है।

एक इनसान तभी तक इनसान बना रह सकता है, जब तक उसके भीतर इनसान होने का गुण-धर्म सहेजने वाली मौलिकता है। यही कारण है कि पूरी दुनिया में इनसान की मनोवृत्ति के अनुरूप काफी श्रेणियाँ हो गई हैं। बहुत कम संख्या में लोग हैं, जो पूरी जिंदगी अपने मानवीय गुण-धर्म को बचाए रख पाते हैं। अधिकांश लोग देश, काल और परिस्थितियों के अनुरूप अपने स्वार्थ और अहंकार को तवज्जो देते हुए हर साँचे में ढल जाया करते हैं।

बहुत सारे ऐसे हैं, जो अपने भीतर की इनसानियत को परे धकेलकर शैतानियत को अपना लेते हैं और जमाने भर के लिए मरते दम तक नासूर बने रहते हैं। इनसान के रूप में पैदा होना जितना सरल है, जीवन भर के लिए इनसानियत को सहेजकर रखना और मानवीय उसूलों पर चलना उतना ही दुष्कर है।

ईश्वरीय अनुकंपा और पूर्वजन्म के संस्कारों के साथ ही वंशानुगत चारित्रिक आनुवांशिक गुणों के होने पर ही इनसान अपने आप को इनसान के रूप में प्रकट कर सकता है अन्यथा बहुत सारे लोग हम रोजाना ऐसे देखते हैं, जो कि ऐसे सज-धजकर निकलते हैं, ऐसी लच्छेदार और लुभावनी बातें करते हैं कि लगता है जैसे इनके मुकाबले कोई महान इनसान मिलना संभव ही नहीं है, लेकिन जब-जब इनके इनसानी गुण-धर्म की खोज करते हैं तब हमें घोर निराशा हाथ लगती है।

आजकल जो जैसा दिखता-दिखाता है, वैसा होता नहीं है। अधिकांश लोग अंदर-बाहर में जमीन-आसमान के अंतर से भरे होते हैं। यह स्थिति तथाकथित कुलीन लोगों का आभूषण हो गई है, जिसके सहारे वे दुनिया भर में अपने आप को श्रेष्ठतम और महान सिद्ध करते रहने के सारे यत्न करते रहते हैं। वे लोगों को भ्रमित करने के तमाम हथकंडों का सहारा लेते हुए बहुरूपियों और स्वांगियों तक को पीछे छोड़ देने के करिश्माई करतब दिखाते रहते हैं। असल में देखा जाए तो पूरी दुनिया के इनसानों को साफ-साफ दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—सिद्धांतहीन और सिद्धांतवादी। केवल एक सिद्धांत है, जो इनसान-को-इनसान बनाए रखकर धरती के संचालन में मददगार होता है।

सिद्धांतहीन मनुष्य मानवता के लिए अभिशाप हैं और जगत् के लिए घातक भी; क्योंकि इनकी पूरी जिंदगी स्वार्थ को समर्पित होती है। स्वार्थ पूरे करने के लिए ये लोग किसी भी हद तक जा सकते हैं, अपने कद को ऊँचा दिखाने के लिए किसी को भी गिरा सकते हैं और खुद को ऊँचा उठाने के लिए किसी भी सीमा तक गिर भी सकते हैं। औरों के सामने सारी लाज-शरम छोड़कर ये निर्लज्ज भाव से पसर भी जाते हैं।

सिद्धांतों के मामले में कभी कोई समझौता नहीं किया जा सकता है। या तो सिद्धांतों का शत-प्रतिशत पालन किया जाए अथवा सिद्धांतहीनता का अनुगमन। यह संभव नहीं है कि कोई इनसान पाँच-दस फीसदी कोई सिद्धांत मानता रहे और अपने आप को सिद्धांतवादी सिद्ध करता रहे। किसी भी अंश में सिद्धांतों का क्षरण आदमी को सिद्धांतहीनता की श्रेणी में ला खड़ा करता है।

वर्तमान काल का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह है कि आदमी मुखौटा संस्कृति के आडंबर को अपना चुका है। जहाँ उसका कोई स्वार्थ सिद्ध होने वाला होता है, वहाँ सिद्धांतों को दरकिनार करके भी आगे बढ़ जाता है। जहाँ उसे कोई काम नहीं करना हो, वहाँ वह ऐसा बरताव करने लग जाता है जैसे कि उसके जैसा दूसरा कोई श्रेष्ठ इनसान संसार भर में कहीं है ही नहीं। जो इनसान एक बार जीवनमूल्य छोड़ देता है, वह दुर्घटनाग्रस्त होकर पटरी से उतर गई रेलगाड़ी की तरह हो जाता है, उससे दोबारा इनसानियत की उम्मीद करना एकदम व्यर्थ है।

मूल्यों के परित्याग का सीधा मतलब है इनसानियत से पल्ला झाड़ लेना। जो सिद्धांत छोड़ देता है, वह किसी भी रिश्ते-नाते, मित्रता, संबंधों या सेवा-परोपकार के कार्य का नहीं रहता; क्योंकि उसके जीवन का एकमात्र लक्ष्य स्वार्थसिद्धि ही हो जाता है। ऐसे इनसानों पर भरोसा करना मूर्खता के सिवा कुछ भी नहीं है।

यही कारण है कि मूल्यहीन लोगों का कोई स्थायी संबंधी या मित्र नहीं हो सकता। ये लोग जब कोई स्वार्थ सिद्ध करना होता है तब किसी से भी हाथ मिला सकते हैं, किसी के भी पाँव पकड़ सकते हैं और कोई-सा सही-गलत काम कर सकते हैं। सिद्धांतहीनों के लिए विश्वासघात, मित्रद्रोह, राष्ट्रद्रोह, विघ्नसंतोष और अपने मामूली लाभ के लिए औरों की जिंदगी तक नष्ट कर देने की नकारात्मक मानसिकता का होना सामान्य बात है। ऐसे नकारात्मक लोगों को मनुष्य की श्रेणी से पृथक मानकर बरताव करें, इनकी उपेक्षा करते रहें, इनसे संबंध न रखें और इनसे संवाद से दूर रहें। इन लोगों का सामीप्य भी महान पातक होता है।

जीवन में आनंद पाना चाहें तो ऐसे लोगों से दूरी बनाए रखें; क्योंकि पीठ पीछे वार करने वाले ये षड्यंत्रकारी लोग हिंसक जानवरों और क्रूर असुरों से भी अधिक घातक हैं। धरती इन्हीं लोगों के भार के कारण त्रस्त है। इन लोगों की तादाद इतनी अधिक मात्रा में बढ़ गई है कि धरती में तमस् अधिक सघन हो गया है। यह बात भी है धरती में जब तमस् की सघनता बढ़ती है तो ऐसे नकारात्मक लोगों की संख्या में बेतहाशा वृद्धि होती है। अत: इसका समाधान है कि प्रकृति धरती का तमस् दूर करे और हम ऐसे लोगों को उपेक्षित कर दें। ❑

एक दिन पानी से भरे कलश के ऊपर रखी कटोरी कलश से बोली—''कलश! यह पक्षपात क्यों? जो भी बरतन तुम्हारे पास आता है, तुम उसको जल से भर देते हो, पर मुझ पर कोई अनुग्रह नहीं करते; जबकि मैं हमेशा तुम्हारे साथ मौजूद हूँ।''

कलश ने उत्तर दिया—''बहन! जो मेरे पास ग्रहण करने के लिए आता है, मैं उसे संतुष्ट करके भेजता हूँ, परंतु तुम अभिमान के साथ मेरे सिर पर चढ़ी रहती हो तो मैं तुम्हारी क्या मदद कर पाऊँगा? तुम अभिमान छोड़ो, अपनी पात्रता सिद्ध करो तो मैं तुम्हें अभी भर दूँ।'' कलश का कहा कटोरी की समझ में आ गया कि वस्तुत: पूर्णता की प्राप्ति पात्रता होने पर ही सिद्ध होती है।

क्रांतदर्शी कवि संत कबीर

'मोको कहाँ ढूँढे बंदे, मैं तो तेरे पास में
न मैं देवल न मैं मस्जिद, न काबे कैलाश में
न तो कौने क्रियाकर्म में, न योग बैराग में।'

कबीर एक क्रांतदर्शी कवि थे, जिनके दोहों और साखियों में गहरी सामाजिक चेतना प्रकट होती है। वे हिंदू और मुसलमान के भेदभाव को नहीं मानते थे। उनका कहना था कि राम और रहीम एक हैं।

वे सामाजिक ऊँच-नीच को नहीं मानते थे। उनके लिए सब समान थे। वे एक क्रांतिकारी रचनाकार थे। उनकी यह क्रांतिकारी चेतना आर्थिक, सामाजिक भावों का परिणाम है। सामाजिक असमानता के शिकार और आर्थिक साधनों के अधिकार से वंचित निम्नवर्गीय लोगों की स्थिति देखकर उनका मन द्रवित हो उठा था। धार्मिक कर्मकांडों और पाखंडों के विस्तार और रूढ़ियों ने उन्हें मंदिर प्रवेश की अनुमति प्रदान नहीं की थी। इन सभी कारणों ने उन्हें विद्रोही बना दिया।

इस संदर्भ में डॉ. विश्वनाथ तिवारी ने अपना मत प्रकट करते हुए लिखा है कि संत कबीर का मुख्य स्वर विद्रोह का है। यद्यपि वे मूल्यहीन विद्रोही नहीं थे, वे संत कवि थे। संत कवि सदाचरण पर अत्यधिक बल देते थे। उन्होंने वर्णाश्रम व्यवस्था पर तीव्र प्रहार करके मनुष्य की उच्चता और निम्नता का मानदंड आचरण को माना, वर्ण को नहीं।

निस्संदेह कबीर के लिए सदाचरण का नियम ही धर्म की कसौटी था और उनके द्वारा बनाए गए आचारित धर्म के मार्ग पर चलकर ही मनुष्य पाखंडों एवं आडंबरों से दूर हो सकता है। वे बाह्याडंबरों, मिथ्याचार एवं 'कर्मकांड' के विरोधी थे।

जिस समय संत कबीर का आविर्भाव हुआ था, उस समय देश में कई प्रकार की साधनाएँ प्रचलित थीं। बौद्ध धर्म का प्रभाव घट चुका था, उस समय नाथ-सिद्ध साधना का प्रचार बढ़ गया था और वह यद्यपि प्रारंभ में शरीर की निर्बलता और समय पर बहुत बल देती थी तथापि कालांतर में इसमें भी विकार आ गए थे।

सहज-साधना के नाम पर कई प्रकार के जुगुप्सित आचारों का समावेश इन पदों में हो गया था। उस समय 'सहज' शब्द बहुत प्रचलित था, जिसका आशय था इंद्रियों को वश में करके चित्त को परमात्मा में लीन कर देना; किंतु इस सहज का जो रूप सहजसुख और महासुख की साधना के सामने आया, उसका कोई संबंध इंद्रियदमन से नहीं था। संत कबीर ने सहज का जो रूप सामने रखा था, वह इस प्रकार था—

सहज-सहज सब कोई कहै, सहज न चीन्हें कोई।
जिन्ह सहजै वियात 'जी, सहज कहीं जै सोई।

निस्संदेह मध्ययुगीन समाज में व्याप्त बाह्याडंबर, मिथ्याचार एवं कर्मकांड आज भी किसी-न-किसी रूप में आधुनिक कहे जाने वाले इस समाज में विद्यमान हैं। इन समस्याओं का निदान संत कबीर के काव्य में ही है।

कबीर ने पंडितों के ही कर्मकांड और बाह्य मिथ्याचार का विरोध नहीं किया, वरन उन्होंने नाड़ी, वेदी, सबदी, मौनी, साधकों की व्यर्थता भी घोषित की थी। उन्होंने नारद भक्ति की हृदय साधना पर जोर दिया था—

नाही बेदी सबदी मोनी जमकै पटै लिखाया।
भगति नारदी हिरै न आई कादि कू छित नुदीनां॥

वे सामाजिक कुरीतियों को हटाना चाहते थे। सबको प्रेम और भाईचारे के साथ रहने की सीख देते थे। वे परोपकार को महत्त्वपूर्ण मानते थे। उदाहरण के लिए एक दोहे में उन्होंने कहा है—

बड़ा हुआ तो क्या हुआ, जैसे पेड़ खजूर।
पंथी को छाया नहीं, फल लागै अति दूर॥

अर्थात बड़े होने का कोई लाभ नहीं है यदि एक व्यक्ति दूसरे के काम न आए। जिस प्रकार खजूर का पेड़ बहुत बड़ा होता है, पर उसका फल बहुत दूर होता है, जिसको कोई खा नहीं सकता है। खजूर का पेड़ यात्रियों को छाया भी नहीं देता है। अत: ऐसे बड़प्पन से भला किसी को क्या लाभ हो सकता है।

संत कबीर की रचनाओं में तत्कालीन समाज में रीति-रिवाजों, संस्कारों, खान-पान, वेशभूषा, सौंदर्य-प्रसाधन आदि

का उल्लेख भी देखने को मिलता है। इन वर्णनों से समाज के हर वर्ग के लोगों के विषय में जानकारी मिलती है। समाज में उस समय सामंती व्यवस्था थी, उच्च वर्ग के लोग एक विशेष प्रकार का वस्त्र धारण करते थे, जो सफेद रंग का होता था और वह विशेषकर शासक वर्ग ही धारण करता था।

उसी तरह ब्राह्मण वर्ग का अलग व निम्न वर्ग का अलग वस्त्र था। सामान्य वर्ग के भोजन के बारे में संत कबीर कहते थे कि सामान्य जन दाल-भात, खिचड़ी और चना-चबैना इत्यादि से ही संतुष्ट रहते थे, उनका कार्य प्रात:काल उठकर अपने और सामंतों के आँगन में झाड़ू देना, खाँच लेकर गोबर की सफाई करना, बासी भात खाना, घड़ा लेकर पानी भरने जाना ही साधारण मनुष्य की दिनचर्या थी।

बड़े भोर उठि आँगन बाढ़ूँ,
बड़े खाँच लै गोबर काढ़ूँ।
बासी भात मनु से लीह लखाय,
बड़ा थै लालै पानी के जाय॥

कबीर कहते थे कि जीव शरीर को क्या साफ कर रहा है, कपड़े और शरीर की उज्ज्वलता मात्र से वह मुक्ति नहीं पा सकता है। साफ-सुथरे कपड़े पहनने तथा पान, सुपारी से अपने मुँह को सुशोभित करने भर से ही सीमित रहने वाले लोग बड़े नहीं होते। भगवान के भजन के बिना अंत में काल-पाश में बँधे हुए यमपुर जाते हैं और नरक की यातना भोगते हैं।

उन्होंने खान-पान के इस असंयम की भी निंदा की थी। उनके विचार में सादा भोजन, खिचड़ी आदि थोड़ा-सा नमक पड़ा हो—ऐसा आहार मधुर एवं तृप्तिकारक है। सादे भोजन को छोड़कर भोग-लिप्सा की दृष्टि से अधिक स्वादिष्ट पेड़ा-रोटी आदि हानिकारक हैं। वे उन सभी वस्तुओं का परित्याग करने पर बल देते थे, जो व्यक्ति के लिए प्रभुप्राप्ति के मार्ग में बाधा बनें।

वे सभी विकृतियों का परित्याग करने की सलाह मानव समाज को देते थे। संत कबीर की रचनाओं में ऐसे अनेक उल्लेख मिलते हैं, जिनसे तत्कालीन वेशभूषा के बारे में पता चलता है। समाज का उच्च वर्ग कीमती और सुंदर वस्त्र धारण करता था; जबकि साधारण लोग साधारण वस्त्रों से अपना काम चलाते थे।

धर्म और जाति के आधार पर भी वेशभूषा में अंतर हुआ करता था। ब्राह्मण यज्ञोपवीत धारण करते थे, माथे पर टीका लगाते और सिर पर पगड़ी बाँधते थे। उच्च वर्ग के लोग शरीर पर चोला, चंदन, इत्र आदि सुगंधित द्रव्यों का सेवन करते थे। संत कबीर ने अपने ही शब्दों में लिखा था—

चोआ चंदन मरदन अंगा,
सो तन-जलै काग कै संगा।

वे समाज की इस विषमता से दु:खी थे। उन्होंने कहा कि सभी का भाग्य अलग-अलग है। किसी के भाग्य में मोतियों जैसा सुख है तो किसी के भाग्य में विपत्ति आक्रांता बनकर आती है। किसी को पहनने के लिए सुंदर रेशमी वस्त्र मिलते हैं तो किसी को तन ढकने के लिए गुदड़ी तक नहीं है और किसी को सोने के लिए निवाड़ का पलंग मिला है तो किसी को पुआल की शय्या तक नसीब नहीं है।

संत कबीर के शब्दों में—

काहू पहिं मोती मुकता हल काहू व्याधि लागई।
काहू दीन्हां पात पटंवर, काहू पलंघ निवारा॥
काहू गदी गूदरी नाहीं, काहू सेज पवारा॥

उनकी रचनाओं में पुरुषों के समान ही स्त्रियों की वेशभूषा का भी उल्लेख मिलता है। सामान्य स्त्रियाँ साड़ी का प्रयोग करती थीं। चोली बंचुकी और अँगिया पहनने की भी उन दिनों प्रथा थी। सामान्य स्त्रियाँ लहँगा और चुनरी का उपयोग करती थीं। वे घूँघट भी काढ़ती थीं। वेशभूषा के अतिरिक्त समकालीन समाज में प्रचलित सौंदर्य प्रसाधनों और आभूषणों का भी उल्लेख उनकी रचनाओं में देखने को मिलता है।

उस समय हिंदू स्त्रियाँ सोलह शृंगार भी करती थीं। उन्हीं के शब्दों में देखा जा सकता है—

नव सतता जे कामनी, तन-मन रही सँजोई।
पीव के मुनि भावै नाहीं, पतन की ये क्या होई॥

आकर्षक और सुंदर बनने के लिए विविध प्रकार के उपाय लोग किया करते थे। स्वच्छ जल में स्नान करना, सुगंधित द्रव्यों का लेपन करना, कीमती आभूषण और वस्त्रों को धारण करना—ये सब वंशानुगत धर्म था। सौभाग्यशाली हिंदू स्त्रियाँ माथे पर सिंदूर, आँखों में काजल, हाथों में चूड़ियाँ, पैरों में बिछुआ और पायल आदि धारण करती थीं।

संत कबीर के ही शब्दों में—

जौ पै पिय के मनि नाहिं भाए,
तौ का परो सनि कै हुलराए।

का चूरा पाइल झमकाए,
कहाँ भयो बिछुवा ठमकाए।
का काजल सिंदूर कै दीयै,
सोलह शृंगार कहा भयो कीयै॥

कुछ स्त्रियाँ पान खाने की भी शौकीन थीं यथा—**दाँत, गैल, मोर पान खाट केस गैल मोर संग नहात।**

उनकी रचनाओं में सामाजिक उत्सवों और पर्वों के भी उल्लेख मिलते हैं। उन्होंने रूपात्मक शैली में होली, वसंत, चाँचर, हिंडोला आदि का चित्रण किया है। होली लोकजीवन का पर्व है। इस अवसर पर स्त्री-पुरुष समस्त मानसिक कुंठाओं को विस्मृत कर अबीर-गुलाल एक-दूसरे पर डालते हैं और रंग भी पानी में घोलकर डालते वक्त किस प्रकार का उल्लेख लोग अपने मन में अनुभव करते हैं। संत कबीर ने इसका बड़ा ही आकर्षक चित्र खींचा है, यथा—

खेले फाग सब नर-नारी,
हाथ लकुट मुख में गारी।
घर से निकली बनीं सुंदरी,
भाँति-भाँति पहिरे सारी।
अबीर गुलाल लिए भर झोरी,
मिलन चलीं पिय को प्यारी।
अपने-अपने झुंडन मिल करि,
मिलन चलीं पिय को प्यारी॥

होली के अवसर पर सामूहिक गान और नृत्य का भी आयोजन होता है। लोकजीवन के उल्लास को अभिव्यक्त करने वाले इन त्योहारों पर मृदंग, झाँझ, मजीरा, ढोलक, तुरही आदि वाद्ययंत्रों की मधुर ध्वनि किस के मन को नहीं मोह लेगी? उन्हीं के शब्दों में—

बाजत ताल मृदंग, झाँझत पत रही तानफीरी।
सुरत-निरत जहँ नाँच तनिक से बाढ़ तरंग अपारी॥

उन्होंने कहरा, वसंत, चाँचर आदि लोकोत्सवों को अभिव्यंजित करने वाले प्रतीकों के माध्यम से यद्यपि आध्यात्मिक संदेश दिया है, तथापि इससे उनके गंभीर अनुभव का परिचय मिलता है। चाँचर एक प्रकार का विशेष गीत है, जिसे कहार जाति के लोग हुड़का बजाकर गाते हैं तथा नाचते हैं।

इसको कहरवा में भी गाया जाता है। वसंत की नैसर्गिक हरीतिमा, नूतन पुष्प-पल्लव से सुसज्जित सुषमा जीवन में नए उत्साह का संचार करती है। इस प्रकार संत कबीर ने तत्कालीन समाज के कलुषित यथार्थ का ही मात्र चित्रण नहीं किया है, बल्कि सामाजिक विसंगतियों के उन्मूलन के लिए भी प्रयास किया है। लोकजीवन के विविध पक्षों को प्रस्तुत करते हुए नए जीवनमूल्यों को स्थापित किया है।

उनके शब्दों ने समाज में आस्था का एक नया मोड़ लाया। इसी कारण से वे आज भी प्रासंगिक हैं। मानसलोक का सामान्य अर्थ लोकजीवन से है। लोकजीवन बहुत व्यापक होता है। साधारणतया लोग लोक का अर्थ जनसाधारण से लेते हैं। लोकजीवन के दो पक्ष माने गए हैं—ग्राम्य जीवन और नगरीय जीवन। जब हम समस्त लोकजीवन को एक साथ लेते हैं तो हमारे सामने न तो विशिष्ट ग्राम्य जीवन ही आता है और न ही विशिष्ट नगरीय जीवन ही; उसके भीतर दोनों ही समाजों के चलते हुए जीवन की विशेषताएँ सामने आती हैं।

लोकजीवन के भीतर प्रायः ऐसी ही बातों का चित्रण मिलता है। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'लोक' के संबंध में अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि 'लोक' शब्द का अर्थ 'जनपद' या ग्राम्य नहीं है, बल्कि नगरों और ग्रामों में फैली हुई वह समूची जनता है, जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं। इस समूचे समाज में धार्मिक विश्वासों, बाह्याचारों, अनुष्ठानों तथा क्रियाकलापों के पूर्ण दर्शन हमें मिलते हैं। इन सभी का धरातल सामान्य जनजीवन ही है।

'लोक' शब्द के उच्चारण मात्र से ही सामान्य जनजीवन का चित्र और उसकी सांस्कृतिक झाँकी हमारी आँखों के सामने उपस्थित हो जाती है। ऐसे लोकजीवन के संबंध में हम यह कह सकते हैं कि लोकजीवन न तो ग्राम्यता से मुक्त है और न ही नागरिक वैयक्तिकता से, बल्कि इसके भीतर ग्राम्य नागरिकता है।

संत कबीर ने भी ऐसे ही लोकजीवन की परिकल्पना की थी। उनका लोक भी ऐसा ही है, जिसमें समूचे समाज का चित्रण मिलता है। उन्होंने ऐसे लोकजीवन को देखा था जिसमें कई प्रकार के बाह्याचार, अंधविश्वास एवं कुरीतियाँ आदि अनेक विषमताएँ विद्यमान थीं और जिनसे लोग प्रभावित थे और उन्हीं विषमताओं को दूर करने का संदेश संत कबीर ने दिया। ❑

प्राकृतिक कृषि

पेड़-पौधे संपूर्ण रूप से प्रकृति पर निर्भर रहते हैं। कोई भी पौधा या पेड़ अपने बढ़ने के लिए जो कुछ लेता है, उसका 98.5 हिस्सा हवा, पानी और सूरज की रोशनी से लेता है। हवा में से कार्बन-डाइऑक्साइड वायु पेड़ या पौधे अपने आप लेते हैं, हमें देना नहीं पड़ता। जड़ें, जल को भूमि से लेती हैं, जो भूमि में मानसून की वर्षा से जमा होता है। मानसून वर्षा का जल मुफ्त में देता है, जिसका बिल हमें चुकाना नहीं पड़ता। सूरज की रोशनी को पेड़ या पौधों के पत्ते सूरज से अपने आप लेते हैं, हमें देना नहीं पड़ता।

पेड़ या फलों को निसर्ग या प्रकृति बढ़ाती है, फल प्रकृति देती है, हम नहीं। पेड़ या फसलों की जड़ें भूमि से नाइट्रेट के रूप में नाइट्रोजन लेती हैं। भूमि में यह नाइट्रोजन हवा से जमा होता है। हवा में 78.6 प्रतिशत नाइट्रोजन होता है। यह काम राइजोवियम जैसे जीवाणु करते हैं, जो मूँगफली, उड़द, चना, तुवर जैसी दलहन की फसलों की जड़ों में निवास करते हैं और हवा में से नाइट्रोजन लेकर पौधों को या पेड़ों को बढ़ाने के लिए देते हैं। इसका मतलब यह है कि अगर हम धान की फसल लेने के पहले धान फसल को काटते ही दलहन, चना, फलियों जैसी रबी फसल उसी नमी पर लेते हैं, तब अगले मौसम में लगाई धान की फसल के लिए आवश्यक नाइट्रोजन अपने आप भूमि में जमा होगा, जो उसे खुद मिल जाता है। फिर ऊपर से यूरिया डालना नहीं पड़ेगा।

हवा में 78.6 प्रतिशत नाइट्रोजन होता है। अगर ज्वार या मक्के के 4 किलो बीज के साथ चवली के लोबिया या उड़द के दो किलो बीज मिलाकर बो दें तो यूरिया नहीं देना पड़ता है। कपास के दो पौधों के बीच कपास के बीज बोते समय चवली लोबिया या उड़द के बीज बोने से कपास को यूरिया नहीं देना पड़ता है। मिर्ची, भिंडी, बैंगन, टमाटर, ग्वार आदि सब्जी—फसलों के दो पौधों के बीच लोबिया, उड़द, फली या चना जैसे कोई भी दलहन के बीज बोते हैं तो इन फसलों को यूरिया नहीं देना पड़ता।

कोई भी फल-पौधा लगाना हो तो उसके पास तीन-चार लोबिया या उड़द-चने के पौधे और झँडू का पौधा लगाना चाहिए। हर साल जून में लोबिया और झँडू लगाना चाहिए। इससे फलदायी पेड़ों को यूरिया नहीं देना पड़ता है। गन्ना लगाते समय ही वहाँ लोबिया या उड़द, चना जैसे दलहन के बीज बोना चाहिए। केले के बीज लगाते समय ही दो-तीन चवली के और दलहन में उड़द, चना के बीज बो दें। दो केले के पौधों के बीचोंबीच सहजना का बीज या डंडी लगा दें और एक दो झँडू के पौधे लगा दें।

ऐसा करने से केले के पौधे को यूरिया नहीं देना पड़ता है। प्राकृतिक कृषि में हमें सुपर फॉस्फेट, पोटाश एवं अन्य कॉपर, जिंक, मॉलीब्डेनम या फेरस सल्फेट नहीं देना चाहिए। हमारी भूमि अन्नपूर्णा है। सभी तत्त्व भूमि में बेशुमार मात्रा में स्थित हैं, लेकिन जो हैं, वे पके हुए नहीं हैं अर्थात फसलों या फलदायी पेड़ों की जड़ों में जिस स्थिति में चाहिए, उस स्थिति में नहीं हैं। यह पकाने का काम अनंत जीव-जंतु करते हैं। ये जीव-जंतु देशी गाय के गोबर में करोड़ों की संख्या में होते हैं। भूमि पर पानी के साथ जीवामृत देने से ये जीव-जंतु भूमि में पकने लगते हैं और पककर फॉस्फेट, पोटाश, कॉपर, जिंक, लौह, बोरॉन आदि सभी अन्न तत्त्वों को जड़ों तक पहुँचा देते हैं।

प्राकृतिक कृषि में जीवामृत का प्रयोग करने के बाद यह कार्य अपने आप शुरू होता है। हमें किसी भी फसल के लिए ऊपर से उर्वरक नहीं डालना पड़ता। हमारे हजारों-लाखों किसान ऊपर से कुछ भी उर्वरक भूमि में नहीं डालते, लेकिन उनकी कृषि-उपज औरों से कम नहीं, बल्कि ज्यादा है। भूमि सब कुछ है। भूमि के अंदर हम जितनी गहराई में जाएँगे, उतनी ही ज्यादा मात्रा में फसलों को जो अन्न तत्त्व खाद्यान्न चाहिए, वे ज्यादा- से-ज्यादा बढ़ती मात्रा में मिलेंगे। यह गहराई की मिट्टी ऊपर भूमि की सतह पर केंचुए अपनी विष्ठा के माध्यम से लाकर डालते हैं।

उनका यह कार्य चौबीस घंटे चलता है। इस विष्ठा में फसलों के लिए या फलदायी पेड़ों के लिए आवश्यक सभी

अन्न तत्त्व जड़ों को उपलब्ध हो जाते हैं। घने जंगलों में अनगिनत फल देने वाले फल-पेड़, इन्हीं केंचुओं की विष्ठा पर ही जीते हैं और हर साल अनगिनत फल देते हैं। भूमि पर, फसलों को या फल-पेड़ों को पानी के साथ जीवामृत देकर और भूमि पर आच्छादन कर देने से केंचुए यह काम अपने आप करने लगते हैं।

उसी तरह ये ऊपर-नीचे आते वक्त भूमि की किसानी भी करते हैं, हल चलाते हैं एवं भूमि उर्वरा बनाते हैं। कोई भी फसल हो या फलदायी पेड़—इनके लिए हमें ऊपर से कुछ भी नहीं देना पड़ता है। ये केंचुए भूमि की खेती भी करते हैं, भूमि को लगातार सछिद्र बनाते हैं और पूरी बारिश के पानी का भूमि में रिसाव भी करते हैं। बारिश काल समाप्त होते ही भूमि के अंदर जमा जल की नमी केशाकर्षण शक्ति के द्वारा ऊपर भूमि की सतह पर वाष्पीकृत क्रिया द्वारा आती है तो अपने साथ भूमि के अंदर स्थित खनिज क्षार भी उसके साथ घुलकर ऊपर आते हैं और फसलों या फलदायी पेड़ों की जड़ों को मिलते हैं।

मई या जून महीने में खूब बारिश होती है। बारिश की बूँदों में बिजली के प्रभाव से हवा में स्थित नाइट्रोजन मिल जाता है और नाइट्रिक अम्ल के माध्यम से भूमि पर बारिश के साथ आकर भूमि में रिस जाता है। यह नाइट्रेट के रूप में जड़ों को उपलब्ध होता है।

प्राकृतिक कृषि में फसलों या पेड़ों के बीच जो घास उगकर बढ़ती है—उसे उखाड़कर पेड़ों के नीचे ही हम रखते हैं, जो आगे नमी से विघटित होती है और उन घासों से अन्न तत्त्व पेड़ों की जड़ों को प्राप्त होते हैं। इस तरह प्राकृतिक कृषि एक समग्र व्यवस्था के रूप में है—जिसका अनुपालन करने से हमें ही नहीं, वरन संपूर्ण जीवतंत्र को लाभ मिलता है। ❑

एक राजा था। वह परिश्रमपूर्वक व मनोयोगपूर्वक अपनी प्रजा का ध्यान रखता था, परंतु एक बार वह राज-काज के कार्यों को करते-करते और समस्याओं को सुलझाते-सुलझाते बहुत परेशान हो गया। अतएव उसने अपने गुरु से जाकर अपनी व्यथा कही। गुरु बोले—''तू राज्य से परेशान है तो ऐसा कर कि तू अपना राज्य मुझे दे दे। मैं उसे चलाऊँगा।'' राजा ने ऐसा ही संकल्प कर लिया और जाने लगा। गुरु ने कहा—''कहाँ जा रहे हो ?'' राजा बोला—''कोई नौकरी ढूँढ़ने जा रहा हूँ।''

गुरु बोले—''यदि नौकरी ही करनी है, तो मेरी ही कर ले। इतना बड़ा राज्य है मेरे पास। मेरा सेवक बनकर राज्य कर, राज्य को चला। देख, वहाँ कुछ भी तेरा नहीं। भला हो, बुरा हो, हानि हो, लाभ हो सब मेरा होगा। तुझे केवल वेतन मिलेगा।'' राजा ने स्वीकार कर लिया और राज्य वापस आकर चलाने लगा। एक मास के बाद गुरु ने आकर पूछा—''कहो भाई, अब राज्य को चलाना कैसा लगता है ? क्या अब भी दुःखी हो ?'' राजा बोला—''नहीं महाराज, अब इसमें मेरा क्या है ? मैं तो केवल नौकरी करता हूँ, पूर्ण मनोयोग से और फिर निश्चिंत होकर सो जाता हूँ।'' वस्तुतः यदि मनुष्य स्वयं को स्वामी न समझकर सेवक समझ कर्त्तव्यपालन करता रहे तो वह भी सदा निश्चिंत रह सकता है।

जैसी श्रद्धा, वैसा व्यक्तित्व

भावनाएँ हमारे, हम सबके व्यक्तित्व का निर्माण करती हैं। इन्हीं से हमारी जीवन-संरचना, संबंध एवं व्यक्तित्व की उत्कृष्टता अथवा निकृष्टता का परिचय मिलता है। तभी तो डेनियल गोलमैन जैसे विचारक ने भावनात्मक क्षमता को हमारे व्यक्तित्व की चुंबकीय ऊर्जा के रूप में परिभाषित किया है। पश्चिमी दुनिया जिस सत्य को आज समझने एवं अपनाने का प्रयास कर रही है, उसे भारतीय विचारकों ने युगों पूर्व समझ लिया था।

यही कारण है कि उन्होंने संबंधों की साज-सँभाल, सामूहिकता-सहजीवन की संवेदना पर जोर दिया। हमारे सहजीवन के संबंधों के ताने-बाने की बातों से हमारा वैदिक साहित्य ओत-प्रोत है। वैदिक साहित्य में **'संगच्छध्वं संवदध्वं'** की अनुगूँज सुनाई देती है। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने भी श्रीमद्भगवद्गीता के गायन में इसी सत्य का उद्घोष किया है और वे श्रीमद्भगवद्गीता के 17वें अध्याय के तीसरे श्लोक में कहते हैं—

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥

(गीता 17/3)

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि सभी प्रकार के मनुष्यों की स्वभाविक श्रद्धा उनके अंत:करण के अनुरूप होती है; क्योंकि मनुष्य श्रद्धामय है और यह श्रद्धा तीन तरह की होती है—सात्त्विक श्रद्धा, राजसिक श्रद्धा व तामसिक श्रद्धा। अत: अंत:करण भी तीन प्रकार का होता है—सात्त्विक अंत:करण, राजसिक अंत:करण व तामसिक अंत:करण।

सात्त्विक अंत:करण वाले व्यक्ति की श्रद्धा सात्त्विक होती है, राजसिक अंत:करण वाले व्यक्ति की श्रद्धा राजसिक होती है और तामसिक अंत:करण वाले व्यक्ति की श्रद्धा तामसिक होती है। भगवान श्रीकृष्ण के अनुसार—जो व्यक्ति जैसी श्रद्धा वाला है, वही उसका स्वरूप है अर्थात वही उसकी वास्तविक स्थिति (निष्ठा) है और उसी के अनुसार उसका व्यक्तित्व है।

यो यच्छ्रद्धः स एव सः अर्थात भगवान श्रीकृष्ण के अनुसार—जो मनुष्य जैसी श्रद्धा वाला होगा, वैसा ही उसका स्वरूप होगा और वैसी ही उसकी निष्ठा होगी। जैसी जिसकी निष्ठा होगी, वैसी ही उसके कर्मों की गति होगी। उसका प्रत्येक भाव व क्रिया, उसके अंत:करण की श्रद्धा के अनुसार ही होगा और जब तक वह इस संसार से संबंध रखेगा, तब तक अंत:करण के अनुरूप ही उसका स्वरूप होगा।

अत: किसी के व्यक्तित्व में अगर परिवर्तन लाना है, तो परिवर्तन उसके अंत:करण में लाना होगा। बिना अंत:करण को परिवर्तित किए व्यक्तित्व में बदलाव संभव नहीं है और अंत:करण में यह परिवर्तन उसकी श्रद्धा में बदलाव से संभव है, लेकिन यह प्रक्रिया अचानक संभव नहीं होती, बल्कि बहुत धीरे-धीरे लगातार प्रयास व अभ्यास से ही संभव होती है।

मनुष्य की श्रद्धा ही उसकी असली पहचान है, उसके व्यक्तित्व का आधार है, जिस पर उसके जीवन का ताना-बाना बुना हुआ है। अगर मनुष्य की श्रद्धा आलस्य में है, तब उस व्यक्ति की जीवन कथा में उसके आलसीपन की कथा होगी। अगर श्रद्धा रजस् की है, महत्त्वाकांक्षा व दौड़ की है, तब उसका जीवन अपने दौड़-भाग की कहानी कहेगा और अगर मनुष्य की श्रद्धा सत्त्व की है, तो उसके जीवन में एक सुगंध होगी—शांति व प्रसन्नता की। इस तरह मनुष्य की जैसी श्रद्धा होगी, उसका जीवन भी उसी अनुसार होगा।

श्रद्धा यानी हमारी वो आदतें, जिन्हें हम इस जन्म में ही नहीं, बल्कि पिछले जन्मों से भी दोहराते आ रहे हैं और अगर हम इन्हें सुधारेंगे नहीं, बदलेंगे नहीं, तो हर जन्म में उन्हें ही दोहराते रहेंगे और एक ही गलती को बार-बार करते रहेंगे। इसी कारण भगवान बुद्ध व भगवान महावीर ने अपने साधकों के लिए एक अनूठा प्रयोग खोजा था। वे तब तक किसी व्यक्ति को साधना में नहीं ले जाते थे, जब तक उसको पिछले जन्मों का स्मरण न करा दें। एक बार बुद्ध से

किसी व्यक्ति ने इसके बारे में पूछा—"पिछले जन्म को स्मरण करने से क्या प्रयोजन है? मैं तो अभी शांत होना चाहता हूँ, उसका मुझे कोई रास्ता बताइए।"

तब बुद्ध ने कहा—"मन के शांत होने की यह बात तू पिछले जन्मों में भी किन्हीं और बुद्धों से कह चुका है कि मैं शांत होना चाहता हूँ, मुझे कोई रास्ता बताइए और रास्ते तुझे पिछले जन्मों में भी बताए गए हैं, लेकिन कभी तूने उनका पालन नहीं किया। तो तू मेरा समय नष्ट मत कर। मैं तुझे रास्ता बताऊँगा और तू उनका पालन नहीं करेगा; क्योंकि पहले भी इसी तरह दूसरे बुद्धों से तुमने शांत होने के रास्ते पूछे हैं, लेकिन कभी तूने उनका पालन नहीं किया। तू सिर्फ अपनी आदत दोहरा रहा है। इसलिए पहले मैं तुझे तेरे पिछले जन्मों की याद दिला देना चाहता हूँ, पहले तू अपने दो-चार जन्मों का स्मरण कर ले, ताकि तुझे यह स्पष्ट हो जाए कि तू उसी वर्तुल को कहीं फिर से तो नहीं दोहरा रहा है।"

अब उस आदमी को कुछ समझ में आया। एक वर्ष तक वह बुद्ध के पास पिछले जन्मों के स्मरण के लिए रुका और हैरान हुआ कि पिछले जन्म में भी जब उसकी पत्नी मरी थी, तब भी वह एक बुद्धपुरुष के पास गया था, उसके पहले जन्म में भी जब उसकी पत्नी मरी थी, तब वह एक बुद्धपुरुष के पास गया था और अभी भी इस जन्म में जब उसकी पत्नी मर गई है, तो वह बुद्ध के पास आया है कि मेरा मन बड़ा अशांत है, मुझे शांति चाहिए। यह सब जानकर वह बहुत घबराया।

उसने बुद्ध से पूछा—"यह क्या है? यह सब मैं कर रहा हूँ या मुझसे जबरदस्ती करवाया जा रहा है?" बुद्ध ने कहा—"अगर तू जानता नहीं, तो तू यह सब करता ही चला जाएगा; क्योंकि तुझे पता ही नहीं कि तू सिर्फ यह सब दोहरा रहा है, तू सिर्फ इन घटनाक्रमों की पुनरुक्ति कर रहा है, चूँकि तुझे पिछले जन्म स्मरण नहीं हैं, इसलिए बार-बार वही घटनाक्रम दोहरा रहा है।"

हालाँकि पिछले जन्मों को स्मरण करना हर किसी के लिए संभव नहीं, लेकिन हमें अपना बीता हुआ कल तो पता ही है, अपने बीते हुए कल में हम जो गलतियाँ करते हैं, उन्हें भी हम दोहराते रहते हैं। जैसे—हमने किसी पर क्रोध किया तो उस पर पछताते हैं कि अब अगली बार क्रोध नहीं करेंगे, लेकिन फिर हम क्रोध करते हैं; क्योंकि क्रोध करना हमारी आदत में शामिल हो गया है, इस कारण न चाहते हुए भी आदतन हम क्रोध करते हैं। यहाँ पर क्रोध हमारी श्रद्धा (राजसिक श्रद्धा) में शामिल हो गया है, हमारी पहचान बन गया है।

इसलिए हमें अपनी श्रद्धा को ठीक से पहचानना जरूरी है; क्योंकि न पहचानने से जीवन में बड़ी जटिलताएँ बढ़ेंगी। जैसे—जो व्यक्ति आलसी है, वह सुखों को पाने की लालसा रखता है, लेकिन सुख राजसी लोगों को मिलते हैं, आलसी को नहीं। जो राजसी प्रकृति के लोग होते हैं, बहुत दौड़-धूप करते हैं, वे जीवन में शांति चाहते हैं; जबकि शांति तो सात्त्विक व्यक्तित्वों को ही मिलती है।

अत: जीवन में एक उलटबाँसी देखने को मिलती है। जो मनुष्य तमोगुण प्रधान हैं, वो सुख-ऐश्वर्य की सुविधाएँ चाहते हैं, जो रजोगुण धर्म अपनाने से उपलब्ध होती हैं और जो मनुष्य रजस् गुण-धर्म प्रधान हैं, वे शांति चाहते हैं; जबकि शांति तो सत्त्वगुण की अवस्था है। अगर उन्हें सत्त्वगुण की उपलब्धि हुई, वे अपना रजस् गुण-धर्म भली भाँति अपना नहीं पाएँगे। उदाहरण के लिए—राजनीति में दौड़-धूप करने वाले लोग अपने जीवन में यदि शांति चाहें, तो उन्हें यह कैसे मिल सकती है। शांति के लिए तो उन्हें राजनीति छोड़नी होगी।

अत: हमें अपने आप को, अपने भीतर को ठीक से पहचानना जरूरी है; क्योंकि हमारे भीतर निवास करने वाली हमारी श्रद्धा ही हमारा वास्तविक जीवन है। जो मनुष्य जैसी श्रद्धा वाला है, वह स्वयं भी वही है। अगर मनुष्य अपने आप को, अपने भीतर को ठीक से पहचाने, तो वह समझ जाएगा कि जीवन में तृप्ति किसी एक गुण-धर्म से नहीं हो सकती, बल्कि उसके लिए तीनों गुण-धर्म का संयोग जरूरी है और तीनों के संयोग से ही उसे तृप्ति मिलती है, तीनों के संयोग से ही उसे एक प्रतीति शुरू होती है और इन तीनों का संयोग ही धीरे-धीरे मनुष्य को उस तरफ ले जाता है, जो गुणातीत है।

अत: हमें अपनी श्रद्धा के गुण-धर्म को पहचानना है; क्योंकि वही हमारी अब तक की असली पहचान है और फिर हमें अपनी श्रद्धा को भी नया रूप देना है, उसे सही दिशाधारा देनी है यानी जीवन के त्रिगुण में एक संतुलन स्थापित करने का अभ्यास करना है। इस अभ्यास से, हमारे भावनात्मक परिष्कार से, हम सबके जीवन की संरचना और संबंधों का ताना-बाना अधिक ओजस्वी एवं रसमय हो सकेगा। ❑

शिष्य की अंतर्वेदना

हे गुरुवर, आपकी स्थूल अनुपस्थिति बहुत खलती है। याद आते हैं आपके संग बिताए वो स्वर्णिम पल, जब हम आपकी उपस्थिति में निश्चिंत-निर्द्वंद्व विचरण करते थे, संसार के किसी तनाव, दबाव व विक्षोभ की परवाह किए बिना; क्योंकि आप जो साथ में थे। एक समर्थ तरु की छाया में जैसे पक्षी निश्चिंत रहते हैं, कुछ ऐसे ही हम आपकी छत्रछाया में रह रहे थे। हमें किसी बात की चिंता नहीं थी; क्योंकि आप हमारे हर प्रश्न के उत्तर थे, हर समस्या के समाधान थे।

अशांत-क्लांत पलों में दौड़े-दौड़े आपके पास पहुँच जाते थे और कुछ ही मिनट के सत्संग में मन के हर प्रश्न का समाधान मिल जाता था; हर चिंता, दुःख, भय, अवसाद न जाने कहाँ तिरोहित हो जाते थे। हँसते-गाते, उछलते-कूदते वापस अपने काम में जुट जाते थे। जानते हैं कि वह आपका अंतर्यामी, सर्वसमर्थ, करुणाभरा, कृपामयी दैवी स्वरूप था; जिसकी झलक पाकर हम धन्य अनुभव करते थे।

लेकिन काल क्रम में आपका प्रत्यक्ष मार्गदर्शन अब उपलब्ध नहीं है। साथ में है तो बस, आपकी स्थूल अनुपस्थिति। आपकी प्रत्यक्ष उपस्थिति, आपके संग-साथ के लिए कभी-कभी मन तड़प उठता है, लेकिन वह सुलभ कहाँ। विचार करते-करते आपके साथ बिताए अनमोल पल याद आते हैं, कितनी सारी यादें, कितनी सारी बातें व कितने सबक-सीख। इनके संग मन को समझाने का प्रयास करते हैं।

आपने ही तो कहा था कि गुरु एक व्यक्ति नहीं, चेतनास्वरूप, ईश्वर का प्रतीक-प्रतिनिधि होता है, जिसको अज्ञानतावश हम स्थूलशरीर तक सीमित मानने की भूल करते हैं। वह सूक्ष्म व कारण में और घनीभूत व सक्रिय होता है, प्रभावी होता है।

यह हमारी कुपात्रता ही कहेंगे कि हम आपके स्थूलशरीर से ही चिपके रहे। शायद आपकी अनुपस्थिति हमारी स्थूल आसक्ति का उपचार है व हमें सूक्ष्म की ओर बढ़ने के लिए प्रेरित-बाधित कर रही है। बीच-बीच में घटनाओं का क्रम, मन में उठ रहे प्रश्नों के उत्तर व संताप का हरण, कुछ ऐसे होता है कि आपकी उपस्थिति का एहसास प्रत्यक्ष हो उठता है।

इस पावन अवसर पर हमें बस, यही वरदान दीजिए कि आपकी स्मृति सतत बनी रहे, आपकी उपस्थिति का एहसास होता रहे; क्योंकि इसी में परमात्मस्मरण एवं आत्मबोध का राज छिपा है। हमारे लिए आप ही ईश्वर के चलते-फिरते विग्रह थे। फिर शास्त्रों में भी तो कहा गया है कि ईश्वर के सच्चे भक्त के हृदय में स्वयं ईश्वर विराजमान होते हैं, वह प्रत्यक्ष ईश्वर होता है।

गुरु ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर से भी आगे परमब्रह्मस्वरूप होता है। हम आपसे प्रार्थना करते हैं कि आप हमें यह आशीर्वाद दें कि हमें आपका यही सर्वव्यापी, सर्वांतर्यामी, सर्वसमर्थ, सर्वज्ञ स्वरूप सदा याद रहे व हम आपके बताए सन्मार्ग पर बढ़ते हुए सदैव आपकी कृपा के पात्र बने रहें। ❑

निस्संदेह हमारा जीवन अलौकिकताओं से भरा पड़ा है। रहस्यवाद के परदे इतने अधिक हैं कि उन्हें समय से पूर्व खोला जाना अहितकर ही होगा। अतः पीछे वालों के लिए उसे छोड़ देते हैं कि वस्तुस्थिति की सच्चाई को प्रामाणिकता की कसौटी पर कसें और जितनी हर दृष्टि से परखी जाने पर सही निकले, उससे यह अनुमान लगाएँ कि अध्यात्म विद्या कितनी समर्थ और सारगर्भित है। ***—परमपूज्य गुरुदेव***

अनमोल है यह मानव तन

'इतनी भीषण गरमी में आपके प्याऊ का मीठा जल पीकर वास्तव में मन तृप्त हुआ। इतना मीठा जल पिलाने के लिए आपकी जितनी सराहना करूँ, उतना ही कम है। आपको इसके लिए बहुत-बहुत धन्यवाद!' जून की भीषण गरमी में राहगीरों के लिए मार्ग में रखे गए मीठे जल के लिए बृजबिहारी जी को हर राहगीर से लगभग ऐसे ही मधुर उद्‌गार सुनने को मिल रहे थे।

गरमी से बेहाल हर राहगीर को मधुर जल पीकर जो तृप्ति मिलती थी, उसके लिए वे हृदय से बृजबिहारी जी को धन्यवाद-साधुवाद आदि कहते हुए आगे निकल जाते थे और जल ही क्यों जीवन में अक्सर हम जब भी किसी-से-किसी प्रकार की सेवा या सहायता पाते हैं तो हम धन्यवाद या साधुवाद कहकर उस व्यक्ति का सम्मान करना कतई नहीं भूलते। ऐसा करना हमारा मानवीय कर्त्तव्य भी है और शिष्टाचार भी।

बृजबिहारी जी की तरह संसार में ऐसे असंख्य लोग हैं, जो दूसरों की सेवा-सहायता करते हैं और धन्यवाद के पात्र बनते हैं, पर क्या कभी हमने इस पर विचार किया है, चिंतन किया है, मनन किया है कि किसी के द्वारा जल पाकर या अन्य वस्तु, सहयोग या सेवा पाकर हम उस व्यक्ति को तो हृदय से साधुवाद कहते हैं, पर क्या कभी हमने उस परमात्मा को धन्यवाद कहा है, जिसने हमें इतना अमूल्य व अनमोल मनुष्य शरीर दिया है, मानव जीवन दिया है।

मनुष्य शरीर ही तो वह साधन है, जिसके द्वारा हम मोक्ष, मुक्ति, निर्वाण, कैवल्य, समाधि, सिद्धि, आत्म-साक्षात्कार, ईश्वर-साक्षात्कार, परम आनंद आदि प्राप्त कर सकते हैं। मनुष्य शरीर में ही तो हम उद्योगपति, चिकित्सक, गीतकार, कलाकार आदि बन पाते हैं। इसके लिए क्या कभी परमात्मा को हमने सचमुच हृदय से धन्यवाद कहा है?

वन-उपवन, पर्वत, उफनती हुई नदियों, खिले हुए रंग-बिरंगे पुष्पों, सागर में उठती लहरों, आकाश में चमकते सितारों, पूरी वसुंधरा को अपनी चाँदनी से नहला देने वाली पूनम की रात और उषाकालीन उदीयमान सूर्य के अनुपम सौंदर्य को देखकर हमें जो आत्मिक आनंद की अनुभूति होती है, उसके लिए परमात्मा को हम कितनी बार और कैसे धन्यवाद कहें? अँधेरे को मिटाकर जगत् को अपने आलोक से भर देने वाले भगवान सूर्य के लिए हम उन परमात्मा को कैसे और कितनी बार धन्यवाद कहें?

मनुष्य के जीवनयापन व स्वास्थ्य के लिए विविध प्रकार के फल, शाक, अन्न, जल, वायु, औषधीय पौधे आदि भी तो मनुष्य के लिए परमात्मा का ही अनुदान-अनुग्रह हैं। जिस परमात्मा ने हमारे लिए इतनी सुंदर दुनिया रची है, उसे हम धन्यवाद ज्ञापित करें भी तो कैसे करें? सचमुच ऐसे तमाम अनुदान-अनुग्रह के लिए परमात्मा के प्रति हमें कृतज्ञ होना ही चाहिए। इतना ही नहीं, परमात्मा ने तो हमें सभी प्राणियों में, जीवधारियों में सबसे श्रेष्ठ व सुंदर बनाकर अपना उत्तराधिकारी ही बनाया है। इन सबके लिए हम परमात्मा के प्रति कृतज्ञता का भाव प्रकट करें तो कैसे करें?

वास्तव में शास्त्रों में वर्णित ईश्वरीय अनुशासन, मर्यादा आदि का पालन करके ही ईश्वर के प्रति हम अपनी कृतज्ञता प्रकट कर सकते हैं। मात्र शब्दों से कृतज्ञता का भाव प्रकट नहीं किया जा सकता। वैसे ही जैसे रोना तो रोकर ही दिखाया जा सकता है, सुनाया जा सकता है। गाना तो गाकर ही सुनाया जा सकता है। वैसे ही मात्र कृतज्ञता, धन्यवाद, साधुवाद आदि शब्दों के उच्चारण मात्र कर देने से ईश्वर के प्रति हमारी कृतज्ञता पूरी नहीं हो जाती, प्रकट नहीं हो सकती।

ईश्वर के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिए तो हमें ईश्वर को अपने जीवन में जीना होगा। ईश्वरीय अनुशासन को अपने जीवन में जीना होगा। सत्-चित्-आनंदस्वरूप ईश्वर को अपनी आत्मा में प्रकट करना होगा। ईश्वर के अंश होने के कारण हमें भी हमारे वास्तविक सत्-चित्-आनंदस्वरूप को पाना होगा। युगऋषि श्रीराम शर्मा आचार्य जी के शब्दों में कहें तो हमें ईश्वर को सर्वव्यापी, न्यायकारी मानकर उनके अनुशासन को अपने जीवन में उतारना होगा।

ईश्वर के अनुशासन को अपने जीवन में जीकर ही हम ईश्वर के सच्चे उत्तराधिकारी, ईश्वर के सर्वश्रेष्ठ राजकुमार हो सकते हैं। हर श्रेष्ठ पिता की यही इच्छा होती है कि हमारी संतान भी हमारी ही तरह श्रेष्ठ हो। ईश्वर परमपिता हैं।

इसलिए हमारी आत्मा में बीजरूप में ईश्वरत्व प्रदान किया है, पर उस बीज में अंकुरण हो सके, उस बीज में सुषुप्तावस्था में व्याप्त ईश्वरत्व जाग सके, उस हेतु हमें शास्त्रों में वर्णित ज्ञान, कर्म, भक्ति, स्वाध्याय, सेवा आदि योग साधनों का निरंतर अभ्यास करना होगा। उन योग साधनों के निरंतर अभ्यास से ही हम अपने भीतर ईश्वरत्व को जगा सकते हैं।

हम अपने भीतर करुणा, प्रेम, संवेदना आदि दिव्य भावों को तभी जगा सकते हैं। तभी हम अपने भीतर सोए देवत्व को जगा सकते हैं। उन दिव्य भावों को जगाकर हम भी दिव्य हो सकते हैं। देवत्व ही मनुष्य की असली पहचान है। देवत्व के अभाव में, सत्य, ज्ञान, करुणा, प्रेम, संवेदना आदि दिव्य गुणों, ईश्वरीय भावों के अभाव में मनुष्य आकृति से मनुष्य भले ही दिख सकता है, पर वास्तव में प्रकृति से वह मनुष्य नहीं हो सकता।

समाज में हत्या, लूट, बलात्कार, भ्रष्टाचार, दुराचार हिंसा आदि घटनाओं को अंजाम देने वाले भी तो आकृति से मनुष्य जैसे ही दिखते हैं, पर क्या वे प्रकृति से सचमुच मनुष्य हैं। शेर के बच्चे में शेर होने की संभावना रहती ही है, पर इसके लिए उसे अपने अंदर सोए शेर को जगाना पड़ता है, वरना भेड़ों के बीच रहते हुए भेड़ों जैसा जीवनयापन करते हुए शेर भी स्वयं को भेड़ ही समझने लगता है।

उसके अंदर के शेर के नहीं जागने से अर्थात उसके अंदर अदम्य साहस के प्रकट नहीं होने से भेड़ की तरह जीवनयापन करता हुआ ही उसका जीवन समाप्त हो जाता है। उसके अंदर जंगल का राजा होने की असीम संभावना थी, पर वह संभावना भी समाप्त हो गई। क्यों? क्योंकि वह गीदड़ और भेड़ जैसा जीवन ही जीता रहा। वह अपने भीतर शेर जैसा साहस पैदा नहीं कर सका, जिसकी एक दहाड़ मात्र से सारे वन्यजीव भयभीत हो भाग खड़े हो सकते थे, वह स्वयं ही दुम दबाकर भागता रहा और तदनुरूप जीवन जीता रहा।

उसी प्रकार ईश्वरत्व के, देवत्व के नहीं जागने से हम भी शेर होते हुए भी, ईश्वर का श्रेष्ठ राजकुमार होते हुए भी वासनाओं, तृष्णाओं, कामनाओं की पूर्ति हेतु पशुवत् जीवन जीते हुए अपनी जिंदगी समाप्त कर लेते हैं। हम भी भेड़ सरीखा जीवन जीने लगते हैं। यदि विषय-भोगों के लिए ही जीवन होता तो इसके लिए मनुष्य तन जरूरी न था। इसके लिए तो पशु तन ही पर्याप्त है।

उपनिषदों में मनुष्य को अमृत पुत्र कहा गया है। आत्मा को अजर, अमर, अविनाशी कहा गया है, पर अमृत पुत्र होते हुए भी, अमर-अविनाशी होते हुए भी हम हर पल मृत्यु के भय से काँपते हैं। हम मरने से पहले न जाने कितनी बार मर चुके होते हैं। यज्ञ, दान, परोपकार आदि श्रेष्ठ कर्म करने की बातें सुनते ही हम उन्हें पूरा करने के बजाय, दुम दबाकर भाग खड़े होते हैं। इंद्रिय संयम के बजाय इंद्रियों के दास बने रहते हैं। ध्यान, जप, तप आदि आध्यात्मिक साधनाओं के प्रति उदासीन रहकर हम सचमुच इस मनुष्य जीवन का, ईश्वर के द्वारा प्रदत्त इस अनमोल उपहार का कितना निरादर करते हैं।

हमारे अंदर ईश्वरत्व जाग जाए तो हम वासना, तृष्णा, कामना से सदा-सर्वदा के लिए मुक्त होकर सदा के लिए परम आनंद में स्थित हो सकते हैं। साधक के अंदर जागे ईश्वरत्व, देवत्व के समक्ष कामना, वासना, तृष्णा आदि निम्नगामी प्रवृत्तियाँ वैसे ही मिट जाती हैं, जैसे सूर्य के उदय होते ही अंधकार का अंत हो जाता है। हमारे अंदर ज्ञान का सूरज उग आए तो हम भी आलोक से आप्लावित हो, प्रकाश से प्रकाशित हो न सिर्फ मानव जीवन को सफल बना सकते हैं, बल्कि परमात्मा की सच्ची व श्रेष्ठ संतान भी कहला सकते हैं।

वास्तव में परमात्मा के प्रति हमारी यही सच्ची कृतज्ञता होगी। परमात्मा के प्रति हमारी यही सच्ची भक्ति होगी, प्रेम होगा। परमात्मा के प्रति हमारा यही सच्चा समर्पण होगा। इस अनमोल मानव जीवन के लिए परमात्मा के प्रति यही वास्तविक धन्यवाद ज्ञापित करना होगा। यही वास्तव में धन्यवाद ज्ञापन होगा।

सच कहें तो इस संसार में साधक ही शेर है। उसके अंदर साधना के धधकते अँगारे में काम, क्रोध, मोह, लोभ, दंभ, दुर्भाव, राग, द्वेष आदि निम्नगामी प्रवृत्तियाँ भस्मीभूत हो जाती हैं। साधक ही इस संसाररूपी उपवन का शेर है अर्थात राजा है; क्योंकि वह इंद्रियों का दास नहीं, बल्कि समस्त इंद्रियाँ उसके दास-दासियाँ हैं। साधक की तनी हुई

भृकुटी के समक्ष काम, क्रोध, लोभ, राग, द्वेष आदि प्रवृत्तियाँ भला टिक भी कैसे सकती हैं ?

जहाँ सामान्य मनुष्य इन निम्नगामी प्रवृत्तियों का शिकार होता है, वहीं साधक इन निम्नगामी प्रवृत्तियों का शिकार करता है। शिकार शेर ही कर सकता है। शिकार साधक ही कर सकता है। शेष तो निम्नगामी प्रवृत्तियों के शिकार ही बनते हैं। वे हर पल मनुष्यता से पदच्युत होते हैं। साधक ही इस संसार का राजा है; क्योंकि साधक के पास आत्मिक आनंद का अपार खजाना है। वह सभी प्रकार के दु:खों व बंधनों से मुक्त है। साधक ही ईश्वर की श्रेष्ठ संतान है।

स्मरण रखो कि मनुष्य के लिए उपनिषदों का यही आह्वान है—हे मनुष्य, हे अमृत पुत्र, हे अजर, अमर, अविनाशी आत्मा! स्वयं को पहचानो। यह मानव तन अनमोल है। यह जीवन ईश्वर की प्राप्ति के लिए मिला है, विषय-भोगों के पीछे मर-मिटने के लिए नहीं। मानव जीवन को क्षणिक भौतिक सुखों की बलिवेदी पर मत चढ़ने दो, बल्कि इस दुर्लभ तन को पाकर अमृतत्व को प्राप्त करो। ❑

पंडित विद्याभूषण बहुत बड़े विद्वान थे। दूर-दूर तक उनकी प्रतिभा की चर्चा होती थी। उनके पड़ोस में एक अशिक्षित, परंतु अत्यंत सेवाभावी व्यक्ति रहते थे—रामसेवक। पंडित जी रामसेवक की उपेक्षा किया करते थे; क्योंकि उन्हें लगता था कि अशिक्षित होने के बावजूद भी लोग इन्हें इतना सम्मान देते हैं। एक दिन पंडित जी अपने घर के बाहर टहल रहे थे, तभी उन्होंने देखा कि एक व्यक्ति रामसेवक से मिलने आया है। तभी उन्होंने देखा कि एक व्यक्ति दुकानदार से उन्हीं के घर का पता पूछ रहा है। उन्हें लगा कि यह व्यक्ति मुझसे मिलने आया होगा। तभी उन्होंने देखा व सुना कि दुकानदार उस व्यक्ति से कह रहा था—"मुझे किसी पंडित जी का मकान नहीं मालूम।" तब व्यक्ति ने रामसेवक के घर का पता पूछा।

तब दुकानदार ने कहा—"अरे! उन्हें कौन नहीं जानता, वे बड़े भले आदमी हैं।" फिर उसने उँगली से इशारा करके रामसेवक का घर बता दिया। फिर दुकानदार ने पूछा—"लेकिन आपको रामसेवक जी से काम है या पंडित जी से।" व्यक्ति बोला—"भाई! काम तो मुझे रामसेवक जी से ही है, पर उन्होंने ही बताया था कि उनका मकान पंडित विद्याभूषण जी के पास है।" यह सुनकर पंडित जी ग्लानि से भर उठे। वे सोचने लगे कि उन्होंने हमेशा रामसेवक को अपने से हीन समझा और उसकी उपेक्षा की, परंतु रामसेवक कितना विनम्र है। वह स्वयं मुझसे अधिक प्रसिद्ध होते हुए भी मुझे ज्यादा महत्त्व देता है। उसी रात पंडित जी ने रामसेवक के घर जाकर उनसे क्षमा-याचना की। उस दिन के बाद दोनों गहरे मित्र बन गए।

ईश्वर-की शरणागति

एक बार एक संत अपने शिष्यों के साथ नदी किनारे टहल रहे थे। वहाँ उन्होंने देखा कि एक मछुआरा नदी में जाल फेंककर मछली पकड़ रहा है। संत अपने शिष्यों के साथ उस मछुआरे के पास गए। उन्होंने शिष्यों को जाल में फँसी मछलियों को देखने को कहा। उन्होंने कहा कि ध्यान से इन मछलियों को देखो। कुछ मछलियाँ जाल में निश्चल, निष्क्रिय पड़ी हैं तो कुछ जाल से निकलने की कोशिश कर रही हैं, लेकिन निकलने में कामयाब नहीं हो पा रही हैं। हाँ, कुछ मछलियाँ जाल से निकल भागने को लगातार प्रयास करती रहीं और अंततः निकल भागने में सफल रहीं और आजादी से घूमने लगीं। नदी में कुछ मछलियाँ ऐसी भी थीं, जो जाल में फँसी ही नहीं।

संत ने तब अपने शिष्यों से कहा कि इन चार प्रकार की मछलियों की तरह मनुष्य भी चार तरह के होते हैं। एक मनुष्य वह है, जो अपनी इंद्रियों के जाल में फँस चुका है और हार मान चुका है। वह इससे निकलने की कोशिश भी नहीं कर रहा है। दूसरा मनुष्य वह है, जो इंद्रियों के जाल में फँसा तो है, लेकिन वह उससे निकलने की कोशिश कर रहा है। हाँ! यह बात अलग है कि वह जाल से निकल भागने में कामयाब नहीं हो पा रहा है। तीसरा मनुष्य वह है, जो इंद्रियों के जाल में फँसा भी और उससे निकल भी गया और अब वह अपनी आजादी का आनंद मना रहा है। चौथा मनुष्य वह है, जो अपने वास्तविक स्वरूप को जानता है और वह यह भी जानता है कि इंद्रियों का जाल कितना भयावह है और इनके आकर्षण व प्रलोभन से कैसे बचा जाए। वह इस जाल में कभी फँसता ही नहीं और इसीलिए हमेशा आजाद रहता है।

दरअसल इस प्रसंग में शिष्यों व साधकों के लिए बहुत ही गहरी व महत्त्वपूर्ण प्रेरणाएँ हैं। वह मनुष्य जो अपनी इंद्रियों के जाल में फँस चुका है और हार मान चुका है, उसके मन में विषय-भोगों को पाने की घोर लालसा होती है। वह विषय-भोगों का, वासनाओं का, उनसे मिलने वाले क्षणिक सुख का सतत चिंतन करता रहता है। वह उन्हें पाने की लालसा में इस कदर डूबा रहता है कि उसे उन विषय-भोगों से मिलने वाले सुखों की क्षणभंगुरता व दुष्परिणाम का भान तक नहीं होता। उसके अचेतन मन में भरे हुए अशुभ, कामुक व वासनामय संस्कार उसके मन के ऊपर इस कदर हावी रहते हैं कि वह उचित-अनुचित, लाभ-हानि, शुभ-अशुभ, नीति-अनीति का तनिक भी विचार किए बिना उसे हर हाल में पाने को लालायित हो उठता है। उसका मन उसके नियंत्रण में नहीं रह पाता।

इस प्रकार अपने मन के बहकावे में आकर वह अशुभ व बुरे कर्मों में लिप्त हो जाता है, फिर वह उन बुरे, अशुभ व पापपूर्ण कर्मों में इस तरह लिप्त होता जाता है, डूबता जाता है कि फिर उनसे बाहर निकल पाना उसके लिए संभव नहीं हो पाता। अंततः वह हार मान लेता है और उसी गई-गुजरी, नारकीय व दयनीय स्थिति में पड़ा रहता है। वह इससे निकलने की कोशिश भी नहीं करता। इस स्थिति से बाहर निकल पाने का एक ही मार्ग है और वह है ईश्वर की शरणागति। भगवान भक्तवत्सल हैं, शरणागतवत्सल हैं। वे अपने आश्रितों पर, अपने भक्तों पर अपार करुणा व कृपा करने वाले हैं। यदि सच्चे मन से प्रभु से आकुल पुकार की जाए तो हम न सिर्फ इंद्रियों के जाल से, अपनी नारकीय व पापपूर्ण मनःस्थिति से मुक्त हो सकते हैं, बल्कि अपने मन व चित्त की शुद्धि कर पवित्र जीवन जीते हुए भौतिक व आध्यात्मिक दोनों प्रकार के सुखों को प्राप्त कर सकते हैं।

दूसरा मनुष्य वह है, जो इंद्रियों के बहकावे में आकर उनके जाल में फँस तो चुका है और उससे निकलने की कोशिश भी कर रहा है, पर वह निकल पाने में कामयाब नहीं हो पा रहा है। वह इंद्रियों के विषयों के आकर्षण में आकर फँस गया है, पर विषय-भोगों को भोगते-भोगते थक जाने के बाद भी उसे तृप्ति नहीं मिल पा रही। उसे तृप्ति मिले भी तो कैसे? क्योंकि भोगों से कभी स्थायी तृप्ति मिलती नहीं। इसलिए भोगों की इच्छा हमेशा अधूरी ही रहती है।

इस बात का उसे थोड़ा-थोड़ा एहसास होने लगता है। इसलिए वह इस स्थिति से बाहर निकल भागना चाहता है, पर इस जाल से निकल भागने का सही मार्ग उसे पता नहीं। इसलिए वह निकल नहीं पा रहा। पर हाँ! उस एक पहले वाले मनुष्य से अच्छा तो है, जो निकलने का प्रयास ही नहीं कर रहा। फलस्वरूप वह पहले प्रकार का मनुष्य अनंतकाल तक अनंत जन्मों तक नारकीय स्थिति में ही पड़ा रहेगा, जन्म-मरण के चक्कर में पड़ा रहेगा।

उस नारकीय स्थिति से निकल भागने की चाहत ही सबसे महत्त्वपूर्ण चीज है, जो इस दूसरे प्रकार के मनुष्य में है। आवश्यकता इस बात की है कि यह चाहत हमेशा बनी रहे। वह प्रभु से बार-बार प्रार्थना करता रहे कि प्रभु मुझ पर कृपा करो। करुणासिंधु प्रभु उस पर करुणा अवश्य ही करेंगे। धीरे-धीरे उसका संकल्प बल मजबूत होता जाएगा। वह प्रभुकृपा से उस स्थिति से बाहर निकलता जाएगा; क्योंकि प्रभु भी, भगवान भी उसी की मदद करते हैं, जो पहले अपनी मदद स्वयं करता है। यह तीसरा मनुष्य प्रथम और द्वितीय प्रकार के मनुष्य से अच्छा है, जो इंद्रियों के जाल में फँसा भी और निकल भी गया।

कभी-कभी लंबे समय तक तप, साधना कर लेने के बाद भी अचेतन में अवशेष रह जाते हैं। काम-वासना के संस्कार समय आने पर सक्रिय हो जाते हैं, क्योंकि अब तक उनका समूल, सबीज नाश हुआ नहीं। इसलिए उनके प्रभाव में आकर साधक कभी-कभी विचलित हो जाता है, पर चूँकि अनवरत साधना करते रहने के कारण उसकी चित्तशुद्धि होने लगी है, उसका संकल्प बल जागने लगता है, इसलिए वह इंद्रियों के जाल में कुछ देर के लिए फँस जाने के बाद फिर निकल पाने में कामयाब हो जाता है। इंद्रियों से परे होकर उसे जो इंद्रियातीत आनंद की अनुभूति मिलने लगती है, उस कारण वह पूर्व की भाँति सामान्य मनुष्यों की तरह इंद्रियों के विषयों के प्रलोभन, आकर्षण व क्षणिक सुख के जाल में फँसने वाला नहीं रहता।

वह चौथे प्रकार का मनुष्य सबसे उत्तम श्रेणी का है, जो इंद्रियों के जाल में, आकर्षण में कभी फँसा ही नहीं। इसके पीछे उसके द्वारा की गई दीर्घकालीन आध्यात्मिक साधनाएँ हैं, भगवद्भक्ति है, स्वाध्याय है और नर रूप में की गई नारायण की सच्ची सेवा है। उसका चित्त संस्कारशून्य है। वह निर्मल है, निर्दोष है, निष्काम है, निर्विकार है, निर्द्वंद्व है। उसके हृदय में परब्रह्म सतत जाग्रत और जीवंत हैं। उसे नित्य-अनित्य का सतत ज्ञान है।

उसे भौतिक सुखों की क्षणभंगुरता और भगवद्भक्ति से मिलने वाले शाश्वत सुख का भान है। उसे न सिर्फ अपने वास्तविक स्वरूप का बोध है, बल्कि वह हर पल अपने सत्-चित्-आनंदस्वरूप में स्थित है। इसलिए वह मुक्त है, उन्मुक्त है, निर्द्वंद्व है, मस्त है, मग्न है, ध्यानमग्न है, आनंदमग्न है। विषयों के आकर्षण से वह ऊपर और बहुत ऊपर है। वह देह, बुद्धि, मन, इंद्रियों सबसे ऊपर है। उसकी आत्मा को परमात्मा का सतत सान्निध्य-संस्पर्श प्राप्त है।

आवश्यकता इस बात की है कि हर पल परम आनंद की अनुभूति पाने के लिए हम भी चौथे प्रकार के सर्वोत्तम मनुष्य के रूप में जीवन जिएँ। ❑

भूलें वे हैं, जो अपराधों की श्रेणी में नहीं आतीं, पर व्यक्ति के विकास में बाधक हैं। चिड़चिड़ापन, ईर्ष्या, आलस्य, प्रमाद, कटुभाषण, अशिष्टता, निंदा, चुगली, कुसंग, चिंता, परेशानी, व्यसन, वासनात्मक कुविचारों एवं दुर्भावनाओं में जो समय नष्ट होता है, उसे स्पष्टतः समय की बरबादी कहा जाएगा। प्रगति के मार्ग में यह छोटे-छोटे दुर्गुण ही बहुत बड़ी बाधा बनकर प्रस्तुत होते हैं। इसलिए नित्य सायं को आत्मनिरीक्षण के समय यह विचार करना चाहिए कि आज इस प्रकार की भूलों में हमारा कितना समय बरबाद हुआ। ये भूलें प्रत्यक्षतः अपराध नहीं मानी जातीं, तो भी ये अपराधों के समान ही हानिकारक हैं।

— परमपूज्य गुरुदेव

शिष्य-साधक की हुँकार

माना कि परिस्थितियाँ विकट विषम हैं, आंतरिक अवरोध व कुसंस्कारों का साया सघन है। इन सबके बीच बाह्याभ्यांतरिक देवासुर संग्राम के विप्लवी पलों का यदा-कदा साक्षी होना पड़ता है। कुछ पल तो ऐसे आते हैं, जब लगता है कि इनका तूफानी अँधड़ पूरे अस्तित्व को ही कहीं लील न जाए। शांति, समाधान, स्थिरता व निश्चिंतता के पल ऐसे में दुर्लभ हो जाते हैं। अस्तित्व भय, विक्षोभ, द्वंद्व व विचलन से आक्रांत हो उठता है।

लेकिन ये तूफानी पल सदा नहीं रहते। समय के साथ ये स्वत: ही शांत भी हो जाते हैं, ऐसा लगता है कि ये विधाता की ओर से अग्निपरीक्षा के रूप में भेजे गए उपहार थे, जो शिष्य-साधक को कुछ आवश्यक सबक सिखाने के लिए आए थे।

ग्रहणशील साधक इनसे अपने लिए आवश्यक संदेश सार को ग्रहण कर लेते हैं और अपने साधना-पथ को गति देते हैं; जबकि लापरवाह साधक इनके प्रहारों में टूट-बिखर जाते हैं व अनावश्यक कटुता से भर जाते हैं। आत्मसमीक्षा न कर पाने के चलते, दूसरों पर दोष मढ़ते रहते हैं।

एक सच्चे शिष्य-साधक के लिए ऐसे में परदोषारोपण का कोई आधार नहीं होता, वह स्वयं इसकी जिम्मेदारी लेता है। यदि वह स्वयं को विकट परिस्थिति में पाता है, तो इसकी जड़ में सक्रिय कारण पर विचार करता है व अपने हिस्से की जिम्मेदारी लेता है। वह जानता है कि जब साथ में सद्गुरु, इष्ट व आराध्य खड़े हैं, तो कोई उसका बाल भी बाँका नहीं कर सकता। साथ ही वह अपने गुरु के बताए मार्ग के प्रति सचेष्ट हो अंतर्निहित प्रेरणा के साथ सत्य पथ पर अडिग रहता है एवं धर्ममार्ग का त्याग नहीं करता।

बाह्य परिस्थितियों के विषम प्रहार अपनी जगह, एक सच्चा शिष्य साधक आंतरिक षड्रिपुओं के स्तर पर मूल्यांकन करता है व साधनात्मक पुरुषार्थ को और प्रचंड करता है। आंतरिक देवासुर संग्राम के पलों में वह अपने शिवसंकल्प में जाग्रत रहता है। उसकी हुँकार रहती है कि मैं एक शिष्य साधक हूँ, जो अपनी इच्छा से सत्यानुसंधान पथ पर प्रवृत्त हूँ। अमृत सूत्र के रूप में अमृतत्व पर हर सच्चे शिष्य, ईश्वरानुरागी साधक की भाँति मेरा भी जन्मसिद्ध अधिकार है। सद्गुरु के दिए सूत्र-संकेतों एवं निर्देशों को वह यदा-कदा अपनी अंतर्वाणी के रूप में अनुभव करता है और अस्तित्व के शिखर-सार इष्ट के साथ एकात्मता को अपना ध्रुव लक्ष्य मानता है।

शास्त्रों में नीतिकार कहते हैं—

श्रोत्रेण श्रवणं तस्य वचसा कीर्तनं तथा।
मनसा मननं तस्य महासाधनमुच्यते॥

अर्थात कान से भगवान के नाम-गुण और लीलाओं का श्रवण करने को, वाणी द्वारा उनका कीर्तन करने को तथा मन द्वारा उनका मनन करने को साधक के लिए महासाधन कहा गया है।

हर पल वह इस भाव का सुमिरन करता है तथा प्रलोभन एवं विषमताजन्य हर परिस्थिति के बीच अपने संकल्प को धार देता है। ऐसे पल उसके सच्चे साधक व अभीप्सु होने की कसौटी भी होते हैं। इनके मध्य वह अनंत धैर्य एवं सतत सजगता के साथ अपने ध्रुव लक्ष्य की ओर गतिशील रहता है। ❑

कहीं हम भी संसार में खो तो नहीं गए

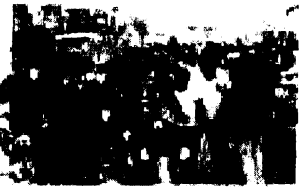

सोमवती अमावस्या के अवसर पर गंगा किनारे बड़ा भारी मेला लगा था। गंगास्नान एवं मेला घूमने को वहाँ दूर-दूर से लोग आए हुए थे। लाखों की भीड़ में लोग इधर-उधर आ-जा रहे थे। मेले में खिलौने व मिठाइयों की आकर्षक दुकानें लगी थीं। अपने माता-पिता के साथ मेले में आए बच्चे खिलौनों व मिठाइयों को देखकर अपने आप को रोक नहीं पा रहे थे। वे अपने माता-पिता से उनको खरीदने की जिद करते रहे। माता-पिता भी अपने बच्चों की जिद पूरी करने में लगे थे, पर कुछ खिलौने व मिठाइयाँ मिल जाने के बाद भी बच्चे अभी भी खिलौनों व मिठाइयों की दुकानों की तरफ ही टकटकी लगाए देख रहे थे। मानो वे मेले के सारे खिलौने और मिठाइयाँ अपने साथ ही ले जाना चाहते हों।

इसी चाहत में कुछ बच्चे माता-पिता से नजरें चुराकर मेले में और दूसरे खिलौने देखने को चल पड़े। हाँ! कुछ ऐसे बच्चे भी थे, जो मेले में अभी भी माता-पिता की उँगली थामे चल रहे थे। वे मेला देखकर अपने माता-पिता के साथ गंगास्नान को चल पड़े। उसी बीच मेले में अचानक भगदड़ मची और लोग इधर-उधर भागने लगे। उस भगदड़ में सभी एकदूसरे से बिछड़ गए।

जो बच्चे माता-पिता की उँगली थामे चल रहे थे, वे तो सही-सलामत रहे, पर जो बच्चे माता-पिता को छोड़कर और भी खिलौने देखने व पाने की चाह में इधर-उधर अकेले घूम रहे थे, वे उस भगदड़ में अपने माता-पिता से बिछड़ गए। लाखों की भीड़ में बच्चे अब अपने माता-पिता को कहाँ खोजें? कहाँ पाएँ? अंतत: वे बिछड़े हुए बच्चे रोने लगे। बच्चों के रुदन से अचानक मेले का माहौल गमगीन हो उठा। बच्चों के करुण क्रंदन से द्रवित होकर कुछ उदारमना लोग उन बिछड़े हुए बच्चों को उनके माता-पिता से मिलाने को तैयार हुए। वे उन बच्चों की उँगली थामे उन्हें मेले में घुमाते रहे, जिससे वे बच्चे अपने माता-पिता को पहचान सकें और उनसे मिल सकें।

मेले में घूमते-घूमते बच्चे अब थक चुके थे। तब उदारमना लोगों ने उन बच्चों को अपनी गोद में उठा लिया और मेले में घूमते रहे। वे उन्हें बीच-बीच में खाने-पीने की चीजें देते रहे। साथ ही यह सांत्वना भी देते रहे कि उनके माता-पिता उन्हें अवश्य मिलेंगे। गोद में बैठकर मेले में घूमते हुए बच्चे मेले में लगी खिलौनों व मिठाइयों की दुकानें भी देखते, पर अब वे उन्हें लेने की जिद नहीं करते। न ही वे अब उन्हें देखकर आकर्षित होते। उनकी नजरें तो बस, अपने माता-पिता को ढूँढ़ने में लगी थीं। इसलिए मेले में जगह-जगह सजी खिलौनों व मिठाइयों की दुकानों को देखकर भी वे अब अनदेखा कर रहे थे। उनका हृदय तो अपनी माँ को, अपने पिता को पाने को, देख लेने को क्रंदन कर रहा था। जो मन माँ और पिता को पाने को व्याकुल था, वह मन फिर मिठाई व खिलौनों में कैसे लगता?

बच्चे अभी भी अपने माता-पिता के लिए रोए जा रहे थे। उनके साथ चल रहे उदारमना लोगों ने उन बच्चों को खिलौने व मिठाइयाँ देकर चुप करने का बहुत प्रयास किया, पर उनके सारे प्रयास निरर्थक रहे। बच्चों की बस एक ही जिद थी, हमें मिठाई नहीं लेना, हमें खिलौने नहीं लेना, हमें तो हमारी माँ चाहिए। हमें तो हमारे पिता चाहिए। हमें अपनी माँ से मिलना है। हमें अपने पिता से मिलना है, पर लाखों की उस भीड़ में बच्चों के माता-पिता को ढूँढ़ पाना भी तो आसान न था।

अचानक उन सबकी मेहनत रंग लाई। भीड़ से गुजरते हुए अचानक एक बच्चे की नजर अपनी माँ पर पड़ी, अपने पिता पर पड़ी। वह बच्चा बड़ी तेजी से अपने माता-पिता की ओर दौड़ पड़ा। वह अपने साथ चल रहे व्यक्ति से हाथ छुड़ाकर अपनी माँ की ओर दौड़ पड़ा। अपने पिता की ओर दौड़ पड़ा। माता-पिता से बिछड़े उस बच्चे में मानो अचानक प्राण का संचार हो उठा। वह दौड़कर अपनी माँ से लिपट गया। वह अपने पिता से लिपट गया। अपने बच्चे को पाकर माता-पिता भी बहुत खुश हुए और उन्होंने अपने बच्चे को अपनी गोद में उठा लिया। दोनों एकदूसरे को पाकर आनंदित हो उठे, आह्लादित हो उठे। उनके आनंद की कोई सीमा न थी। मानो उन सबने संसार का सारा खजाना पा लिया हो।

वास्तव में एक बच्चे के लिए उसके माता-पिता से प्यारी चीज इस दुनिया में तो क्या त्रिलोक में भी नहीं हो सकती है? एक माता-पिता के लिए उनके बच्चे से बढ़कर और कोई दूसरी चीज आकर्षक नहीं हो सकती।

इस प्रकार एक-एक कर सभी बच्चे अपने माता-पिता से मिलते गए और उन्हें पाकर आनंदित हुए, हर्षित हुए, आह्लादित हुए, फिर वे सभी गंगा में डुबकी लगाकर हर्षित हो अपने घर लौट आए। बच्चों का मेले में बिछड़ना व उन्हें खोजने निकल पड़ना व अंतत: उन्हें पाकर आनंदित होना, आह्लादित होना आदि घटनाओं के पीछे एक बहुत ही गहरा दर्शन है, जो हममें से हरेक को कुछ खोजने को, कुछ पाने को अभिप्रेरित कर रहा है।

दरअसल यह संसार भी एक बहुत बड़ा मेला है। इस संसार में करोड़ों, अरबों की संख्या में लोग रहते हैं। हम भी उसी मेले में, उसी संसार में रह रहे हैं, घूम रहे हैं। उस मेले में खिलौनों व मिठाइयों की आकर्षक दुकानें लगी हैं। उस मेले में, उस संसार में भौतिक सुख-साधनों के अंबार लगे हैं। हम दिन-रात उन्हीं खिलौनों, उन्हीं मिठाइयों, उन्हीं क्षणिक भौतिक सुख देने वाले विषय-भोगों में खोए हुए हैं, भटके हुए हैं। हम बार-बार उन खिलौनों से खेल रहे हैं। हम बार-बार विषय-भोगों की मिठाइयों को भोग रहे हैं। हमारी इंद्रियाँ उन खिलौनों और मिठाइयों का बार-बार भोग कर रही हैं, बार-बार उस ओर आकर्षित हो रही हैं।

आज तक हमारी इंद्रियाँ उन खिलौनों से, उन मिठाइयों से तृप्त नहीं हो सकीं, पर फिर भी हम तृप्त हो जाने की आस में उन्हीं खिलौनों, मिठाइयों, कामनाओं, वासनाओं, विषय-भोगों के पीछे अभी भी बड़ी रफ्तार से उसी ओर सरपट भागते फिर रहे हैं। इसी भाग-दौड़ में, इसी भागमभाग में, हम भी अपनी माँ से बिछड़ गए, हम भी अपनी आत्मा से दूर हो गए। हम भी अपने परमपिता से दूर हो गए। अपनी देह व इंद्रियों को ही सब कुछ मान लेने के कारण इंद्रियों के विषयों की ओर दौड़ते-दौड़ते हम अपनी आत्मा से दूर होते गए।

देहपरायण, इंद्रियपरायण जीवन जीने के कारण हमने स्वयं को देह, इंद्रियों, मन व बुद्धि से इतना संबद्ध कर लिया कि स्वयं को देह ही मानने लग गए, मन ही मानने लग गए, बुद्धि ही मानने लग गए, इंद्रियाँ ही मानने लग गए। फलत: हम परमात्मा के दिव्य अंश आत्मा होते हुए भी परमात्मा से बिछड़ गए, परमात्मा से दूर हो गए, पर इसका हमें एहसास तक नहीं हुआ। तभी तो हम अपने भीतर परमात्मा के दिव्य अंश आत्मा की ओर न देखकर अभी भी अपनी देह व इंद्रियों की ओर ही देख रहे हैं। हम अभी भी खिलौनों व मिठाइयों से सुख, शांति व आनंद पाने की जुगत-जुगाड़ में लगे हैं।

हम अभी भी भौतिक सुख-साधनों से पूर्ण तृप्ति पाने की लालसा पाले बैठे हैं, पर इन क्षणिक सुखों, विषय-भोगों के लिए रोना भी क्या रोना है? असली रोना तो वही है, जो हमें हमारी माँ से मिला दे, हमारे पिता से मिला दे, हमें हमारी आत्मा की ओर उन्मुख कर दे, हमें परमपिता से मिलवा दे। ऐसा रोना भी तो विरले ही रो पाते हैं।

इसलिए तो श्रीरामकृष्ण परमहंस देव ने कहा है— "कामिनी और कंचन, पति-पत्नी, बच्चों व धन के लिए तो सभी घड़ों आँसू बहाते हैं, पर परमात्मा के लिए भला कौन रोता है? भगवान के लिए भला कौन रोता है? और जो वास्तव में परमात्मा के लिए व्याकुल होकर रोता है, वह परमात्मा को पाकर रहता है।" यह सच भी है कि अब तक परमात्मा के लिए जो सच्चे मन से रो पाए, वे निहाल हो गए, वे बुद्ध हो गए, वे महावीर हो गए, वे ज्ञानी हो गए, वे ब्रह्मज्ञानी हो गए, वे आचार्य शंकर हो गए, वे संत हो गए, वे ऋषि हो गए, वे योगी और महायोगी हो गए। वे भगवान के और भगवान उनके हो गए।

निरंतर साधना व तप के प्रभाव से उनकी आत्मा पर चढ़े माया व अज्ञान के आवरण उतर गए। उनकी आत्मा में परमात्मा उतर आए और वे धन्य हो गए। वे मन, बुद्धि, इंद्रियों व देह से आबद्ध नहीं, बल्कि उनसे ऊपर हो गए और उसी अचल व स्थिर अवस्था में अपनी आत्मा में परमात्मा को देख पाए। वे स्वयं ही नहीं, औरों को भी धन्य कर गए, निहाल कर गए।

संसाररूपी मेले के क्षणिक भौतिक आकर्षणों में सुख ढूँढ़ रहे व अपने परमपिता से बिछड़े हुए हम भी अपने परमपिता को पा सकते हैं। इस संसार में ही उन्हें खोज सकते हैं। अपनी आत्मा की आँखों से उस सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, निराकार परमात्मा को हम सर्वज्ञ देख सकते हैं। हम उन्हें अपनी आत्मा में अनुभव कर सकते हैं, पर इस हेतु हमें भी चाहिए वे उदारमना ज्ञानी, ब्रह्मज्ञानी बुद्धपुरुष, जिनकी उँगली पकड़कर, जिनकी प्रेरणा व मार्गदर्शन पाकर हम इस संसार

में अनासक्त भाव से रहते हुए, आध्यात्मिक जीवन जीते हुए अपने परमात्मा को पा सकें। अपने सद्गुरु के मार्गदर्शन में निरंतर साधना करते हुए हम एक दिन निश्चित ही अपने भगवान को अपने अंदर ही पा सकेंगे। हम अपने पिता को पा सकेंगे और अपने परमपिता को पाकर हम भी सदा-सर्वदा के लिए आनंदित हो सकेंगे। बुद्धपुरुषों की उँगली पकड़कर चलते हुए, बुद्धपुरुषों के बताए मार्ग पर चलते हुए हम संसार के भोगों के बीच रहकर भी अभोगी रह सकेंगे, अकामी रह सकेंगे और आनंदित व परम आनंदित भी रह सकेंगे। परमात्मा पाने की हमारी व्याकुलता जितनी गहरी होती जाएगी, परमात्मा खोजने व पाने को हमारा रुदन-क्रंदन जितना बढ़ता जाएगा, सांसारिक आकर्षणों व विषय-भोगों के आकर्षणों से हम उतने ही अप्रभावित होते जाएँगे। उतने दूर होते जाएँगे और अंततः देह, मन, बुद्धि व इंद्रियों से परे होकर हम अपने भीतर बैठे परमात्मा को देख सकेंगे, ब्रह्मांड के कण-कण में व्याप्त, परमात्मा को हम अनुभव कर सकेंगे। बस, इसके लिए श्रद्धा, भक्ति व धैर्य के साथ निरंतर सच्ची साधना की आवश्यकता है। ❑

एक भिखारी था। वह ठीक से खा-पी नहीं पाता था और उसकी आँखों की ज्योति चली गई थी। वह इतना कमजोर हो गया था कि उसकी एक-एक हड्डी गिनी जा सकती थी। उसे कोढ़ हो गया था। बेचारा रास्ते के एक ओर बैठकर भीख माँगा करता था। एक युवक उस रास्ते से रोज निकलता था। भिखारी को देखकर उसे बड़ा बुरा लगता। उसका मन बहुत दुःखी होता था। वह सोचता—"वह भगवान से मौत की दुआ क्यों नहीं माँगता? उसे जीवन से इतना मोह क्यों है?" एक दिन उस युवक से रहा नहीं गया और वह भिखारी के पास पहुँचकर बोला—"बाबा! तुम्हारी ऐसी हालत हो गई है, फिर भी तुम जीना चाहते हो? तुम भगवान से यह प्रार्थना क्यों नहीं करते कि वह तुम्हें अपने पास बुला ले।"

भिखारी बोला—"भैया! तुम जो कह रहे हो, वही बात मेरे मन में भी उठती है। मैं भगवान से बराबर प्रार्थना करता हूँ, पर वह मेरी सुनता ही नहीं। शायद वह चाहता है कि मैं इस धरती पर रहूँ, जिससे दुनिया के लोग मुझे देखें और समझें कि एक दिन मैं भी उनकी ही तरह था, लेकिन वह दिन भी आ सकता है; जबकि वे मेरी तरह हो सकते हैं। इसलिए किसी को घमंड नहीं करना चाहिए।" युवक भिखारी की ओर देखता रह गया। उसने जो कहा था उसमें कितनी बड़ी सच्चाई समायी हुई थी, यह जिंदगी का कड़ुवा सच था, जिसे मानने वाले प्रभु की सीख मानते हैं।

प्रदूषित पर्यावरण का दुष्प्रभाव

भारतीय संस्कृति वन या अरण्य संस्कृति कहलाती है। हमारे पूर्वजों ने पृथ्वी को मातृतुल्य माना है। यही कारण था कि हमारी प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति ने प्रकृति के किसी भी क्रियाकलाप में अधिक हस्तक्षेप नहीं किया। पर्यावरण एक विशालार्थी शब्द है। संस्कृत में परि धातु से बने पर्यावरण की परिभाषा कुछ इस तरह है—'परिनः + आवरणम् = पर्यावरणम्'—अर्थात हमारे चारों ओर छाये वातावरण को ही पर्यावरण कहते हैं।

इस पर्यावरण का निर्माण इन घटकों से होता है; यथा जैविक पदार्थ, अजैविक पदार्थ, शक्तियाँ व प्राकृतिक आपदाएँ। समस्त पशु-पक्षी, पेड़-पौधे, कीट-पतंगे, कीटाणु, सूक्ष्मजीव, मनुष्य जाति, खेत-खलिहान, वाटिकाएँ, पर्वत, नदी-नाले, समुद्र। अट्टालिकाएँ, झोंपड़ियाँ, मिट्टी, चट्टानें, पानी, हवा, अग्नि, भूकंप, दावानल, बड़वानल, ज्वालामुखी, अग्निकांड, सूखा, उपग्रहों का एकदूसरे के निकट आने पर पृथ्वी पर उसका प्रभाव पड़ना आदि तत्त्व एवं परिस्थितियों से पर्यावरण क्रमशः निर्मित और प्रभावित होता है। वेदों ने मानव जीवन के समग्र पहलुओं पर प्रकाश डाला है—चाहे वह आध्यात्मिक विषय हो या फिर भौतिक जीवन। जब भौतिक जीवन की बात आती है तो पर्यावरण की ओर हमारा ध्यान जाना स्वाभाविक है।

वैदिककाल से ही हमारे पूर्वजों के समस्त क्रियाकलाप पर्यावरण के संरक्षण हेतु ही हुआ करते थे; जैसे यज्ञ का आयोजन, वृक्षारोपण, फूल-पत्ते, पशु-पक्षियों से स्नेहिल व्यवहार, नदियों, पर्वतों, वृक्षों एवं पशुओं का पूजन, नदी, झरने, तालाब आदि को स्वच्छ रखना। यह सर्वविदित है कि पंचमहाभूतों—पृथ्वी, आकाश, अग्नि, जल, वायु में निहित गुण ही तो मानव जीवन की संरचना करते हैं, उसका पोषण करते हैं और अंत में अपने को आत्मसात् भी कर लेते हैं।

पृथ्वी की समस्त अच्छी-बुरी गतिविधियों का प्रभाव पर्यावरण पर पड़ता है और यही पर्यावरण मानव जीवन को प्रभावित करता है। ये प्रभाव वैचारिक भी हो सकता है, मानसिक, आत्मिक या फिर शारीरिक भी। अग्नि का विशेष गुण है कि जो भी पदार्थ अग्नि में पड़ते हैं, उनके प्रभाव को वह समस्त वातावरण में व्याप्त कर देती है।

इसी अग्नि का शुद्ध वैदिक अथवा धार्मिक नाम है—यज्ञ। हमारे पूर्वज दैनिक एवं विशेष अवसरों पर यज्ञादि करते थे। यज्ञकुंड में शुद्ध घी, सामग्री आदि की आहुतियाँ देकर वातावरण को स्वच्छ एवं पवित्र बनाते थे। अग्नि को तो यज्ञ के दिव्य गुणों से युक्त देव माना गया है। अग्नि ही ऋतुओं को बनाती है। रसोई की अग्नि से पकाया हुआ अन्न प्राप्त करते हैं, पर उसे देते कुछ नहीं परंतु यज्ञ की अग्नि में हम कुछ डालते हैं और बदले में अग्नि से बहुत कुछ पाते हैं।

वायु एक ऐसा तत्त्व है, जो प्राण-हरण करने की शक्ति रखता है। वातावरण के दोष को हर लेता है। वायु में गति होती है, इसीलिए चाहे सुगंध हो या दुर्गंध—वायु सभी को गतिमान कराती है एवं एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाती है। जल को औषधि भी कहा गया है। यह एक ऐसा तत्त्व है, जिसके सेवन से शरीर स्वस्थ रहता है, पर्याप्त मात्रा में यदि इसका उपयोग करेंगे तो आंतरिक रोगों से मुक्त हो जाएँगे। जल चिकित्सा विश्वप्रसिद्ध है।

जल के लिए तो यहाँ तक कहा गया है कि हे जल! तुम उत्तमता को धारण करने वाले हो। पृथ्वी, अग्नि, वायु, जल शुद्ध होंगे तो शून्य (आकाश) शुद्ध होगा और इन सभी के शुद्ध रहने पर इसका हमारे जीवन पर अवश्य ही सकारात्मक प्रभाव पड़ेगा। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि पर्यावरण एवं मानव जीवन का अन्योन्याश्रित संबंध है। इन्हीं सच्चाइयों को जानते हुए प्राचीनकाल में हमारे पूर्वज पर्यावरण से संबंधित प्रत्येक वस्तु की पूजा करते थे तथा उसकी रक्षा करते थे।

यह तो सर्वविदित है कि जो पर्यावरण हमारे जीवन का आलंबन है; आज वह दूषित हो गया है। पाश्चात्य सभ्यता जो अत्यधिक भोग में विश्वास रखती है, उसने

अधिक-से-अधिक साधनों के उत्पादन के लोभ में प्रकृति का बहुत दोहन किया है। परिणामस्वरूप अत्यधिक प्रदूषण, वन विनाश, जल संसाधन विनाश, औद्योगिकीकरण, शहरीकरण, युद्ध एवं विकिरण आदि का हमें सामना करना पड़ रहा है। पर्यावरण चक्र के उपादान हैं—पर्वत, समुद्र, नदियाँ, वन, पशु-पक्षी, वन्य प्राणी, वृक्षादि। यदि ये ही दूषित हो जाएँ तो भला पर्यावरण कैसे शुद्ध रहेगा? कैसे स्वस्थ रहेगा मानव जीवन?

हम देखते हैं कि आज शहरों के कचरे नदियों में बहा दिए जाते हैं, गंदे नालों को नदियों में छोड़ा जाता है, कारखानों के विषैले रसायनों से युक्त धोवन को नदियों में फेंका जाता है। शहरों में प्रतिदिन हजारों टन कचरा उत्पन्न होता है, पर इसका निस्तारण एक विकट समस्या बन गई है।

अस्पतालों से निकला हुआ कचरा कई प्रकार की बीमारियों से युक्त होता है। जैसे सड़े-गले कटे अंग, बेकार औषधियाँ, घाव पर बँधी पट्टियाँ, रूई, सुइयाँ ये सभी फेंकी हुई वस्तुएँ अपने साथ कितनी भयंकर बीमारियों के कीटाणु लिए होती हैं, जिनके संपर्क में आए पशु-पक्षी उन रोगग्रस्त एवं संक्रमण कीटाणुओं को हम तक पहुँचाने के माध्यम बन जाते हैं। हैदराबाद की मूसी नदी पर्यावरण के दो विपरीत रूपों को प्रस्तुत करने का एक जीवंत उदाहरण है। एक समय था, जब मूसी नदी ऐतिहासिक नगर हैदराबाद की सुंदरता का आधार हुआ करती थी, आज वह एक अशुद्ध जल का नाला बनकर रह गई है।

वन विनाश, बढ़ती जनसंख्या, शहरीकरण, नया औद्योगिकीकरण से सूखा बढ़ रहा है, तापमान बढ़ रहा है, रेगिस्तान फैल रहे हैं, जलीय क्षेत्र घट रहे हैं। ये समस्त गतिविधियाँ प्रदूषण को और ज्यादा बढ़ा रही हैं। पहले मनुष्य प्रकृति के समीप होता था, उसके महत्त्व और उसकी आवश्यकता को समझता था, उसकी देख-भाल करता था। इसीलिए प्रकृति भी उसका सही पालन-पोषण करती थी, पर आज मनुष्य स्वार्थवश प्रकृति से दूर होता जा रहा है। उसके महत्त्व और आवश्यकता की अवहेलना कर उसका दुरुपयोग कर रहा है, उसका विनाश करने पर तुला है। इसीलिए प्रकृति भी उसका उचित पालन-पोषण करने में असमर्थ हो गई है।

अंतरराष्ट्रीय मान्यता के अनुसार पृथ्वी पर 33 प्रतिशत जंगल होना आवश्यक है। स्वतंत्रता से पहले हमारे देश में 45 प्रतिशत वन-क्षेत्र हुआ करता था। आज वर्तमान समय में केवल 19 प्रतिशत रह गया है। इससे अधिक त्रासदी और क्या हो सकती है। यह है पर्यावरण का बदला हुआ विकराल स्वरूप।

समय आ गया है कि हम पर्यावरण संरक्षण के प्रति जागरूक हों। प्रदूषण के विरोध में आवाज उठानी चाहिए। इस अभियान में सक्रिय रूप से भाग लेना चाहिए। वृक्षारोपण को बढ़ावा देना चाहिए। जितने भी जल संसाधन हैं उन्हें स्वच्छ रखना चाहिए, अवांछित प्रदूषण को फैलाने पर रोक लगाना चाहिए, वर्षा जल संचलन के अभियान को बढ़ावा देना चाहिए, जैव खाद बनाना चाहिए।

इन सबके प्रति लोगों में जागरूकता लानी होगी। तभी हम स्वच्छ पर्यावरण में स्वस्थ जीवन बिता सकेंगे। मानव जीवन पंच महाभूतों से बना है। इन पंचतत्त्वों के नियमों को मानते हुए यदि उसके गुणों को अपनाएँगे तो अवश्य ही पर्यावरण के संरक्षक कहलाएँगे अन्यथा प्रकृति के कोप का भाजन बनना पड़ेगा। ❑

अखण्ड ज्योति पत्रिका हेतु बैंक खातों का विवरण

Beneficiary –	Akhand Jyoti Sansthan	I.F.S. Code	Account No.
S.B.I.	Ghiya Mandi Mathura	SBIN0031010	51034880021
P.N.B.	Chowki Bagh Bahadur, Mathura	PUNB-0183800	1838002102224070
I.O.B.	Yug Nirman Tapobhoomi, Mathura	IOBA0001441	144102000000006

विदेशी धन बैंक में सीधे जमा न करें, ड्राफ्ट द्वारा भेजें।

जमा रसीद की प्रति एवं विवरण ई-मेल, पत्र द्वारा भेजें; अन्यथा राशि का समायोजन नहीं हो पाएगा।

समग्र विकास का साधन है शिक्षा

भारत में शिक्षा को एक रामबाण औषधि के रूप में हर मर्ज की दवा मान लिया गया और उसके विस्तार की कोशिश बिना यह जाने-समझे शुरू हो गई कि इसके अनियंत्रित विस्तार के क्या परिणाम होंगे ? सामाजिक परिवर्तन की मुहिम शुरू हुई और भारतीय समाज की प्रकृति को देशज दृष्टि से देखे बिना हस्तक्षेप शुरू हो गए। दुर्भाग्य से ये हस्तक्षेप अँगरेजी उपनिवेश के विस्तार ही साबित हुए हैं।

स्मरणीय है कि भारत में नालंदा और तक्षशिला जैसी विश्वस्तरीय शैक्षिक संस्थाओं, गुरुकुलों, विद्यालयों और गाँव-गाँव में फैले स्कूलों की शृंखला वाली समाज-पोषित शिक्षा-व्यवस्था को अँगरेजी शासन द्वारा विधिपूर्वक तहस-नहस किया गया था। विकसित ज्ञान-क्षेत्रों और उनके उपयोग की सारी व्यवस्था को अँगरेजों ने अपने हित में परे धकेलकर अपने ही घर में विस्थापित कर दिया था। साथ ही उसमें से अपनी पसंद के रुचिकर ज्ञान को जीवन से काटकर जड़ बने इतिहास को समर्पित कर संग्रहालय की वस्तु बना दिया था।

यह भारत में शिक्षा के एक शून्य के निर्माण के लिए हुआ, ताकि सिरे से शिक्षा का एक नया प्रासाद निर्मित हो। इस शून्य को अपने एजेंडे के अनुसार अध्ययन-अध्यापन व्यवस्था से भरा गया, ताकि शिक्षा का ऐसा नवनिर्माण हो कि अँगरेजी विचार-पद्धति और ज्ञान भारतीय चिंतन और ज्ञान का स्थान प्राप्त कर ले। भारतीय मानस के कायाकल्प की उनकी योजना सफल भी हुई। अँगरेजी उपनिवेश के दौरान शिक्षा का जो ढाँचा लादा गया, वह उपनिवेश के उपरांत स्वतंत्र भारत में प्रश्नांकित होने की जगह ठीक ठहराया गया और उसे आँख मूँदकर आत्मसात् कर लिया गया।

ऐसा भी नहीं था कि असंगतियों-विसंगतियों पर ध्यान नहीं दिया गया। इनकी समीक्षा के लिए विचार-विमर्श हुआ और राधाकृष्णन और कोठारी आयोगों और राममूर्ति समिति आदि के प्रतिवेदनों के माध्यम से बहुत संस्तुतियाँ भी हुईं। ऐसे विचार अभी भी जारी हैं, पर अधिकांश ठंढे बस्ते में हैं। ज्ञान में पश्चिमी वर्चस्व बरकरार है। विभिन्न विषयों में सिद्धांत, अवधारणाएँ और विचार—पहले यूरोप और बाद में अमेरिका से प्रचुर मात्रा में आयातित हुए और उन्हीं के खाँचे में फिट कर हमने स्वयं को देखना शुरू किया। इस प्रक्रिया में हमारे द्वारा जिस सामाजिक यथार्थ का निर्माण हुआ, वह केवल भ्रम का कारण बना और हम यथार्थ के साथ न्याय नहीं कर सके। देश और काल की सीमाओं को भुलाकर वैज्ञानिकता के घने आवरण में हमारी आधी-अधूरी समझ में पश्चिमी ज्ञान को ही सार्वभौमिक ज्ञान का दरजा दिया गया। दर्शन, विज्ञान और साहित्य की सारी-की-सारी भारतीय उपलब्धियाँ अंधकार में लुप्त होने को अभिशप्त होती चली गईं।

हालाँकि सरकारी और औपचारिक ज्ञान की श्रेणी से बहिष्कृत होने पर भी लोकजीवन में टूटे, बिखरे और बदले रूपों में उसके अवशेष देखे-सुने जा सकते हैं। योग, संगीत, चित्रकला, आयुर्वेद और आध्यात्मिक ज्ञान के क्षेत्र में उनका बाजार कुछ चमक जरूर रहा है, पर ज्ञान की स्वीकृत परिपाटी में उनकी कोई जगह नहीं है। उनकी स्वीकृति अभी भी दोमय या तीसरे दरजे की ही है। कटु और कठोर वास्तविकता यह है कि ज्ञान-विज्ञान की अपनी परंपरा को अनावश्यक ठहराकर व्यर्थ बना दिया गया है। वहीं विदेशों के चलन की नकल करते हुए नए-नए विषय शुरू किए जा रहे हैं। ज्ञान की अंधी और महँगी दौड़ जारी है और हमें गंतव्य का पता नहीं है। भूमंडलीकरण और वैश्वीकरण के बीच हमारी अपनी पहचान और अस्मिता का प्रश्न गौण हो चला है।

देशज ज्ञान-परंपराओं को संदिग्ध की श्रेणी में डालकर पश्चिमी ज्ञान को प्रासंगिकता और आधुनिकता के कवच से सजाया गया है। उसके वर्चस्व को अभेद्य और सुरक्षित बनाया गया है। परिणामस्वरूप यहाँ का शिक्षा-तरु जड़ों से कटता हुआ सूखने लगा है। उसकी जगह जो नया पौधा रोपा गया, उसने यहाँ का जो भी सहज और स्वाभाविक ज्ञान था, उसे खारिज कर दिया। अध्ययन की एक नई चाल में

ढली पद्धति को आगे बढ़ाया गया, जिसमें ज्ञान, मूल्य, चरित्र और संस्कृति जैसे केंद्रीय सरोकारों को संबोधित करने की जगह सारी शिक्षण-प्रक्रिया सतही विमर्श तक सिमटती चली गई है। ज्ञान के माध्यम का प्रश्न भी गंभीरता से नहीं लिया गया है। आज अँगरेजी के वर्चस्व के कारण ज्ञान-सृजन में हम पिछड़ते जा रहे हैं, मौलिकता हमसे दूर होती जा रही है। ज्ञान की दृष्टि से सरकारी नीति में सिर्फ विज्ञान और प्रौद्योगिकी की चिंता ही प्रमुख है। उसी के लिए सुविधाएँ जुटाने का प्रयास होता है। समाज के मानस, संस्कृति और जीवन का दायरा बड़ा है और मानविकी, समाज विज्ञान और कलाओं पर ध्यान ही नहीं जा पाता है। प्राच्य विद्या और भाषा आदि तो इस क्रम में कहीं आते ही नहीं। ये सब सहज विषय हैं और इनका महत्त्व सिर्फ सजावट के लिए होता है।

उच्च शिक्षा की हमारी दिशाहीन कवायद का घातक परिणाम यथास्थितिवाद, अनुकरण और सृजनात्मकता के भीषण ह्रास के रूप में दिख रहा है। इससे निकले छात्र-छात्राओं की लंबी जमात की कुंठाएँ जगजाहिर हैं। उनमें से बहुसंख्यक ज्ञान और प्रशिक्षण की दृष्टि से अपरिपक्व हैं और पात्रता नहीं रखते हैं। जीविका के अवसर भी इतने कम हैं कि उनके लिए मारा-मारी मची है।

सारी व्यवस्था को शरमसार करती आज की स्थिति यह है कि योग्यता से निम्नस्तर के पद के लिए भी हजारोंहजार कहीं अधिक योग्य प्रत्याशियों की भीड़ लगी हुई है। दूसरी ओर तमाम पद खाली भी पड़े हैं; क्योंकि उनके लिए योग्य अभ्यर्थी ही नहीं मिल पा रहे हैं। उच्च शिक्षा में शामिल हो रही भीड़ का अधिकांश हिस्सा तो वहाँ केवल जीवन का कुछ समय व्यतीत करना है। शिक्षा उनके लिए मनोरंजन जैसा होती है। उनकी मूलरुचि शिक्षा में होती ही नहीं, पर विकल्प के अभाव में वे उच्च शिक्षा संस्थानों में जितने दिन हो सकता है, बने रहते हैं।

व्यवस्था की दृष्टि से आज उच्च शिक्षा संस्थानों की स्थिति दयनीय होती जा रही है। कुछ संस्थानों को छोड़ दें तो राजनीति के अखाड़े बनते जा रहे शैक्षिक संस्थान अपनी स्वायत्तता खो रहे हैं। राज्याश्रय के कारण वे सरकारी कार्यालयों में तब्दील होते जा रहे हैं। चूँकि शिक्षा का मसला शासन की वरीयता में नहीं है, इसलिए उनकी समस्याओं को लेकर उदासीनता बनी हुई है और समस्याएँ विकराल होती जा रही हैं। अध्यापकों की कमी है और निहित स्वार्थ वाले विश्वविद्यालयों को कार्य ही नहीं करने देते हैं। बड़े-छोटे अनेक विश्वविद्यालयों में स्थायी कुलपति ही नहीं हैं और कामचलाऊ व्यवस्था जारी है। विश्वविद्यालयों की गरिमा घटती जा रही है, जिसमें निरंतर प्रायोजित होते आयोजनों के चलते अध्ययन-अध्यापन बाधित होता जा रहा है। छुट्टियों के भी इतने प्रकार हैं कि लोग उनका अनुचित लाभ लेकर कार्य में कोताही बरतते हैं। विधिसम्मत छुट्टियों के बाद पढ़ने के अपेक्षित कार्यदिवस ही नहीं बचते। निरंतर उपेक्षा के चलते विश्वविद्यालयों के स्वभाव और उनकी जरूरतों को समझकर जरूरी कदम उठाने में वर्षों लग रहे हैं।

आज ज्ञान के केंद्रों में थकावट आ रही है, सन्नाटा पसर रहा है या फिर अर्थहीन कोलाहल की धूम मच रही है। उनके मानक घट रहे हैं और उनकी गुणवत्ता के साथ समझौता हो रहा है। विश्वस्तरीय शिक्षा का स्वप्न देखने के साथ जमीनी सच्चाई का आकलन कर सुधार भी बेहद जरूरी हो गया है। वर्तमान समय में सरकार द्वारा नई शिक्षा नीति के रूप में एक सराहनीय पहल इस दिशा में की गई है।

परमपूज्य गुरुदेव के द्वारा वर्षों पहले ही 'शिक्षा ही नहीं, विद्या भी' इस उद्देश्य की पूर्ति के भाव से बाल संस्कारशालाओं से लेकर देव संस्कृति विश्वविद्यालय की स्थापना के क्रम को संपन्न किया गया। आज इन प्रकल्पों की सफलता निश्चित रूप से एक आशा की किरण बनकर उभरी है। ❑

दुनिया का सम्मान और सहयोग उनके लिए सुरक्षित है, जो देते बहुत हैं, पर बदले में कम पाने पर भी काम चला लेते हैं। कम देना और बहुत पाना तो प्रवंचकों, पाखंडियों और अत्याचारियों के गले उतरता है। वस्तुतः इस प्रत्यक्ष संसार और अप्रत्यक्ष परलोक का एक ही शाश्वत क्रम है कि पहले दो, बाद में पाओ।

चेतना की शिखर यात्रा – 239

यथार्थ की कसौटी पर विश्वास

विगत अंक में आपने पढ़ा कि भारतीय मनीषा को विज्ञान के आधार पर साबित करने हेतु संकल्पबद्ध पूज्य गुरुदेव एक सुनिश्चित योजना के अनुसार परोक्ष संभावनाओं को प्रत्यक्ष करने में वर्षों से संलग्न थे। सन् 1979 में महामहिम राज्यपाल एवं भौतिक विज्ञान के लब्धप्रतिष्ठित विद्वानों की गरिमामयी उपस्थिति में जब ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान की विधिवत् स्थापना हुई, तब जाकर आमजन को इस स्थापना के पीछे पूज्यवर द्वारा अखण्ड ज्योति के माध्यम से वैज्ञानिक प्रतिपादनों द्वारा वर्षों से गढ़ी जा रही पृष्ठभूमि का भान हुआ और वे स्वयं को उन समर्थ सत्ता से जुड़े रहने पर कृतकृत्य अनुभव करने लगे। आइए पढ़ते हैं इसके आगे का विवरण.....

उपलब्ध पुस्तकों को विषयों के अनुसार अलग-अलग करने, एक ही जगह रखने और फिर उनके रजिस्टर तैयार करने में करीब डेढ़ महीना समय लगा। सुबह-शाम डॉक्टर साहब नियमित रूप से गुरुदेव को आज के किए जाने वाले और हो चुके कार्यों की जानकारी देते। रिपोर्ट देते समय गुरुदेव बीच-बीच में किसी पुस्तक के बारे में कुछ पूछ भी लेते, जैसे यह किस सन् की है, प्रकाशक कौन है या पन्ने पलटते समय इसमें क्या खास बात दिखी? इस विधि से पुस्तकों की सूची तैयार करने पर डॉक्टर साहब को प्रतीत होने लगा कि किताबें व्यवस्थित ही नहीं हो रही हैं, वे अपने पन्नों में बिखरी सूचनाएँ उँडेल भी रही हैं।

यह काम संपन्न हो गया तो गुरुदेव ने कहा— "तुम्हारा चालीस दिन का एक अनुष्ठान पूरा हो गया। अब दूसरे अनुष्ठान की तैयारी करो। दिल्ली से लेकर चेन्नई तक और मुंबई से कोलकाता तक जहाँ-जहाँ भी अपने काम की पुस्तकें उपलब्ध हो सकती हैं, उनका पता करो। जो उपयोगी लगें उन्हें खरीदो, मँगवा लो, जाकर लाना सुविधाजनक लगता हो तो जाकर ले आओ।

शांतिकुंज में उपलब्ध पुस्तकों की सूची तैयार करते हुए विषय, अनुविषय से संबंधित अन्य पुस्तकें और प्रकाशकों की जानकारी इकट्ठी होने लगी थी। उन सूचनाओं को अलग नोट कर लेने से गुरुदेव के बताए दूसरे अनुष्ठान में काफी सहायता मिली। हरिद्वार तीर्थनगरी तो है, साहित्य और संस्कृति का केंद्र भी है, पर अंतरराष्ट्रीय स्तर की गतिविधियों और प्रकाशनों के बारे में जानने की यहाँ कोई व्यवस्था नहीं थी।

इन सूचनाओं को संकलित करने के लिए भारत भर के डेढ़ सौ विद्वानों और प्रकाशकों की सूची तैयार की गई। सूची में शामिल अधिकांश नाम गुरुदेव ने बोलकर ही लिखा दिए थे। उन नामों के पते और संपर्क सूत्र भी इकट्ठे कर लिए गए। इसके बाद डॉक्टर साहब ने उन पतों और व्यक्तियों से संपर्क शुरू किया। करीब महीने भर के प्रयत्नों के बाद उल्लेखनीय जानकारी जुटाई जा सकी।

सूची तैयार हो जाने के बाद तो आवश्यक पुस्तकें, प्रबंध-पत्र मँगाने में और भी ज्यादा समय लगा। हिसाब में समझना चाहें तो महीनों। इन कार्यों के लिए नई दिल्ली, वाराणसी, प्रयाग, लखनऊ, कोलकाता, अडयार, चेन्नई, कांची, बैंगलूरू, मुंबई, पूना, अहमदाबाद, अजमेर, जालंधर, लुधियाना, तिरुअनंतपुरम आदि स्थानों की यात्रा और वहाँ विद्या संस्थानों, पुराने-नए प्रकाशकों तथा आश्रमों और संस्थानों में उपलब्ध पुस्तकें अथवा संदर्भ इकट्ठे किए।

उन दिनों यात्रा इसलिए भी जरूरी थी कि पत्राचार करने, पुस्तकें मँगाने में हफ्तों लग जाते और पुस्तकों के शीर्षक देखकर आर्डर देने पर जरूरी नहीं था कि उनके पन्नों पर अभीष्ट जानकारी होती ही। देखकर और पन्नों पलटकर ही पुस्तकें लाने से अनावश्यक किताबों से बचा जा सका। पुस्तकों की खरीद के लिए कई यात्राएँ करनी पड़ीं। पुस्तकें खरीदने में आश्रम के एक वरिष्ठ कार्यकर्त्ता वीरेश्वर

उपाध्याय दो बार साथ गए। इतनी ही बार श्याम प्रताप सिंह ने भी पुस्तक यात्रा में साथ दिया। हर यात्रा में सैकड़ों पुस्तकें लाई गईं।

डॉक्टर साहब और अन्य जब भी नई पुस्तकें लेकर आते तो सीधे गुरुदेव के पास ले जाते। गुरुदेव उन पुस्तकों को देखते। देखते क्या जाँचते थे। एक बार में ढाई सौ पुस्तकें भी आ जातीं। गुरुदेव उन्हें अपने पास ही रखवा लेते और अक्सर ऐसा होता कि शाम को रखी गई पुस्तकें अगले दिन वापस कर देते। एकाध बार लगा कि गुरुदेव इन पुस्तकों को नजर भरकर देखते ही हैं या उलटते-पलटते भी हैं। मन में क्षण भर के लिए यह उत्कंठा जगी ही थी कि गुरुदेव ने कहा—"सुबह छह बजे इन पुस्तकों में कुछ पन्नों पर निशान लगाकर रखूँगा। उन अंशों को अलग कागज पर नोट कर लेना। इससे ब्रह्मवर्चस के सिद्धांत पक्ष पर लिखने में सहायता मिलेगी।"

अद्‌भुत एकाग्र तन्मयता

डॉक्टर साहब सोचते रहे कि मन में यह विचार नहीं आना चाहिए था। इतना विचार आया ही था कि गुरुदेव ने कहा कुछ ही क्षणों में पुस्तक पढ़ लेना या किसी दृश्य को समझ लेना कोई बड़ी सिद्धि नहीं है। मन को इसके लिए प्रशिक्षित किया जा सकता है। कैमरे के लैंस में उसके भीतर की फिल्म क्षण भर में सामने के विहंगम दृश्य को अंकित कर लेती है या नहीं। कहीं कोई चूक नहीं होती, एक्सरे की मशीन किसी वस्तु के भीतर की बनावट भी पकड़ लेती है। साधारण मशीनें यह सब काम कर लेती हैं तो मनुष्य की इंद्रियाँ और मन इस काम को सहज ही कर सकते हैं। फिर गुरुदेव दूसरे कार्यों और विषयों पर बताने लगे। उनकी बातों पर पूरा ध्यान था, लेकिन मन में पहले कहीं पढ़ा हुआ एक प्रसंग भी याद आ रहा था। कहीं पढ़ा था कि स्वामी विवेकानंद किसी पुस्तक को पढ़ने में उतना ही समय लगाते थे, जितनी देर उसके पन्ने पलटने में लगती थी। मन को एकाग्र कर पढ़ते थे तो उस पुस्तक की पंक्तियाँ महीनों, वर्षों तक जस-की-तस याद रहतीं।

खैर! सुबह हुई। नियत समय पर गुरुदेव के पास जाना हुआ। उनकी मेज के बाईं ओर पचासी पुस्तकें करीने से रखी हुई थीं। पुस्तकों की ओर इशारा करते हुए गुरुदेव ने कहा इन किताबों में ब्रह्मवर्चस के सिद्धांत पक्ष के विवेचन में सहायक दो सौ संदर्भों पर निशान लगाए हैं। बाकी चार सौ अन्य संदर्भों को भी चिह्नित किया है। पुस्तकें लाकर रखने और सुबह वापस ले जाने की यह तीसरी या चौथी बारी थी। इससे पहले भी देखी गई पुस्तकों को गुरुदेव ने कहीं रेखांकित तो कही मार्जिन पर चिह्नित किया था। कई पुस्तकें उनने बताईं कि इनकी शोध में उपयोगिता नहीं है। फिर भी उलाहना नहीं दिया।

उन पुस्तकों को समेटते समय डॉक्टर साहब को गुरुदेव दैनिक जीवन में अध्यात्म और विज्ञान के कुछ व्यावहारिक सूत्र भी बताते जा रहे थे। कल आई किन पुस्तकों में किन स्थलों पर इस बारे में थोड़ी-बहुत या पर्याप्त सूचनाएँ हैं, यह सब बताते हुए उन्होंने अनुसंधान प्रयोगों के लिए काम आने वाले उपकरणों और यंत्रों की सूची तैयार करने के लिए कहा। उसी समय यह उल्लेख आया कि अगली गायत्री जयंती तक शोध संस्थान आरंभ कर लेना है।

गुरुदेव जिस समय यह बात कह रहे थे, तब शांतिकुंज में कार्यकर्त्ता गीता जयंती के संबंध में विमर्श कर रहे थे। गुरुदेव आधा घंटे बाद ही उन्हें इस बारे में कुछ निर्देश देने वाले थे। पर्व तिथि के उल्लेख से आभास होता है कि ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान के आरंभ होने में पाँच-छह महीने का ही समय शेष था। इस बीच पुस्तकालय-संदर्भ स्रोत तैयार होने के साथ प्रयोग-परीक्षण के सरंजाम भी जुटा लेने थे। एक अभिनव और विलक्षण स्थापना की तिथियाँ अत्यंत सन्निकट थीं, जिसकी तैयारियों के लिए कई वर्ष चाहिए। लेकिन उस स्थापना से जुड़े किसी भी कार्यकर्त्ता के मन में व्यग्रता कतई नहीं थी और न ही यह चिंता कि यह सब कैसे होगा?

ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान को गुरुदेव ने मौटेतोर पर तीन हिस्सों में बाँटा था। एक भाग में प्रयोगशाला, योग, स्वास्थ्य, साधना और गुह्य प्रयोगों के स्थूलजगत् पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन। दूसरे गायत्री के चौबीस स्वरूपों की स्थापना-चौबीस देवशक्तियों की स्थापना। तीसरा शोध ग्रंथालय। पहला भाग शुद्ध विज्ञान से जुड़ा था और दूसरा आस्था, श्रद्धा-विश्वास से इन तीनों भागों को समवेत रूप से साधने के लिए।

गुरुदेव ने प्राचीन और अधुनातन ऋषियों, मनीषियों विज्ञानियों और विद्वानों के अनुभव, निष्कर्ष तथा प्रतिपादन की शोध के लिए अध्येताओं को आमंत्रित किया। जिन लोगों में योग, यज्ञ और तंत्र के क्षेत्र में प्रयोग परीक्षण की प्रतिभा थी और जो प्रयोगशाला में इस तरह की पहल कर सकते थे,

उन्हें भी आमंत्रित किया। नवंबर, 1978 तक सौ से ज्यादा शोधार्थियों ने अपने नाम दोनों प्रयोजनों के लिए लिखा दिए। उन्हें मार्गदर्शन देने के लिए गुरुदेव ने दस-दस दिन के शोध शिविर भी आयोजित किए। यह तैयारी अपने स्तर पर चल रही थी। उधर डॉक्टर साहब इस विषय की पुस्तकों और संदर्भों की खोज के साथ योग, मंत्र और यज्ञ के प्रभावों को आँकने वाले उपकरणों को भी तलाश रहे थे।

(क्रमशः)

एक बार गुरु नानकदेव सुल्तानपुर पहुँचे। वहाँ उनके प्रति लोगों की श्रद्धा देख, वहाँ के काजी को ईर्ष्या हुई। उसने सूबेदार दौलत खाँ से शिकायत की कि यह कोई पाखंडी है, इसलिए नमाज पढ़ने कभी नहीं आया। सूबेदार के बुलावा भेजने पर नानकदेव पहुँचे। उन्होंने सूबेदार को अभिवादन नहीं किया, इसलिए सूबेदार क्रोधित होकर बोला—"क्या तुम्हें इतना भी नहीं मालूम कि किसी व्यक्ति से मिलने पर उसे सलाम किया जाता है?" नानक बोले—"मैं गुणों के अलावा और किसी को सलाम नहीं करता।" क्रोधित सूबेदार बोला—"हमारे साथ नमाज पढ़ने चलो।"

नानकदेव उनके साथ मसजिद गए। सूबेदार और काजी तो नीचे बैठकर नमाज पढ़ने लगे, मगर गुरु नानक वैसे ही खड़े रहे। नमाज पढ़ते-पढ़ते काजी सोचने लगा कि आखिर मैंने इस घमंडी को झुका ही दिया; जबकि सूबेदार का ध्यान घर जाकर घोड़ों का सौदा करने की तरफ लगा हुआ था। नमाज खतम होने पर वे दोनों जब उठे तो उन्होंने नानकदेव को चुपचाप खड़े पाया। यह देखकर सूबेदार क्रोधित होकर बोला—"तुम बहुत ढोंगी हो, गुणों की बातें करते हो और नमाज नहीं पढ़ते।"

नानकदेव बोले—"नमाज पढ़ता भी तो किसके साथ? आप लोगों का मन तो नमाज पढ़ने की ओर था ही नहीं। काजी तो मन-ही-मन खुश हो रहे थे कि इन्होंने मुझे मसजिद में लाकर बड़ा तीर मार लिया है और आपका मन घर पर जाकर घोड़ों का सौदा करने की ओर लगा हुआ था।" यह सुनते ही दोनों झेंप गए। उन्होंने नानकदेव के चरणों पर गिरकर क्षमा माँगी। वस्तुतः अनमने मन से किया गया कितना भी भजन निरर्थक है और सच्चे मन से की गई पल भर की प्रार्थना सार्थक होती है।

प्रसन्नता है अवसाद का समाधान

मन जब नकारात्मक विचार-भावों में अटक जाता है और वहीं उलझा-फँसा रह जाता है तो अवसाद का प्रादुर्भाव होता है। यह छोटी-सी भावना गहरा जाती है तो जानलेवा बन जाती है। भारत जैसा खुशहाली में यकीन रखने वाला देश अवसाद के मामले में बहुत आगे पहुँच चुका है। यह समस्या जितनी सतही लगती है, उसकी जड़ें उतनी ही गहरी बैठी हैं। यह निराशा ही तो है, जिसके कारण हम सोचते हैं कि कुछ दिन में अपने आप मन बहल जाएगा। सब ठीक हो जाएगा। हम ऐसा ही तो सोचते हैं, जब कुछ दिनों से घर-परिवार में हमें कोई चुप-चुप, अलसाया-सा, चिड़चिड़ाया-सा दिखता है।

हम वक्त को चिकित्सक मानकर निश्चिंत हो जाते हैं। शायद हम भी नहीं जानते कि ऐसे में क्या करना चाहिए। पता ही नहीं होता कि वह व्यक्ति मानसिक तनाव की उस दहलीज पर है, जहाँ से तनाव निराशा और फिर अवसाद की जहरीली बेल में परिवर्तित हो सकता है। यह जहरीली बेल न केवल मन को खोखला कर देती है, बल्कि तन को भी प्रभावित करने लगती है। अगर इसे जड़ से न उखाड़ा जाए तो यह जानलेवा भी हो सकती है। ऐसे में व्यक्ति का सामाजिक समायोजन बिगड़ने लगता है। विकास की कौन कहे सामान्य कामों को पूरा करने लायक आत्मविश्वास तक तब नहीं बचता।

इसका परिणाम होता है कि रोग हमारे आस-पास मँडराने लगते हैं। अंततः एक हँसती-खेलती जिंदगी— जागरूकता और सही उपचार के अभाव में अँधेरों में गुम हो जाती है। नेशनल इन्स्टीट्यूट ऑफ मेंटल हेल्थ एंड न्यूरोसाइंसेज ने 12 राज्यों में अवसादग्रस्त लोगों का एक सर्वेक्षण किया और पाया कि भारतीयों में अवसाद का स्तर अधिक बढ़ा है। इसमें यह भी कहा गया कि इस तरह की समस्याओं के सूत्र आगे जाकर डायबिटीज और दिल की बीमारियों से मिलते हैं। 40-49 साल की महिलाओं और मेट्रो शहरों में रहने वाली महिलाओं में अवसाद के मामले ज्यादा मिले हैं। इस सर्वेक्षण के अनुसार बुजुर्ग भी अवसादग्रस्त पाए गए हैं।

इस समस्या की कई परतें हैं। जैसे कि मेजर डिप्रेशन, जो गहन अवसाद की स्थिति है, जिसका दवाई, कॉग्निटिव बिहेवियरल साइकोथेरेपी और काउंसलिंग से निदान किया जाता है। डिस्थाईमिया या क्रॉनिक डिप्रेशन गंभीर नहीं होता है, लेकिन कम-से-कम दो साल तक चलता है। इसमें कई बार मरीज को देखकर पता ही नहीं चलता कि वह अवसाद में चल रहा है। एटिपिकल डिप्रेशन में जब-जब कोई अच्छी बात होती है, मरीज भी उबर जाता है, लेकिन फिर कुछ समय बाद अवसाद में आ जाता है।

इसके साथ ही कुछ लोगों को ज्यादा या कम नींद आना, अस्वीकार किए जाने के प्रति संवेदनशीलता, अत्यधिक खाना खाना और हाथ-पैरों में जकड़न या भारीपन महसूस होने के लक्षण भी होते हैं। यह बीमार व्यक्ति को भी हो सकता है और स्वस्थ को भी। यह किसी भी आयुवर्ग के लोगों को हो सकता है। कुछ लोगों में मौसम के हिसाब से भी अवसाद के दौर आते हैं। सीजनल अफेक्टिव डिसऑर्डर या सैड (एसएडी) में साल में सरदी या गरमी के आने पर अवसाद घेरता है और वसंत या शरद के आने पर समाप्त हो जाता है।

अमेरिका में इस तरह के अवसाद के मरीज ज्यादा देखने को मिलते हैं। अभी भी अवसाद के कारणों को पूरी तरह समझ पाना संभव नहीं हो पाया है, लेकिन कुछ कारण स्पष्ट रूप से सामने आए हैं। अगर अवसाद के मामलों को देखें तो पाएँगे कि उनमें से अधिकतर की कुछ भावनात्मक आवश्यकताएँ पूरी नहीं होती हैं और मरीज का उबरना मुश्किल हो जाता है। पहले की अपेक्षा अब स्वकेंद्रित होने की जीवनशैली है। इससे सामुदायिक भावना कम होती जा रही है, जो मानसिक रूप से असुरक्षा की भावना को जन्म दे रही है। वातावरण ऐसा बन रहा है कि लोगों को तनाव ज्यादा है। अवसाद के प्रति जागरूकता भी पर्याप्त नहीं है। एक सर्वेक्षण में अधिकतर लोगों का कहना था कि वे अपने सहकर्मी को अपने अवसाद के बारे में बताना पसंद नहीं करते हैं।

अवसाद की समस्या को इन सामाजिक रूढ़ियों के कारण अनदेखा किया जाता है जो बाद में गंभीर समस्या का रूप ले लेता है। अवसाद के कारण आनुवांशिक, शारीरिक और परिस्थितिजन्य भी हो सकते हैं। शोध अध्ययन बताते हैं कि अवसाद के मरीज के परिवार में किसी अन्य के भी अवसाद की चपेट में आने की आशंका अन्य परिवारों की तुलना में 6 गुना ज्यादा होती है। कुछ अध्ययन यह भी बताते हैं कि अवसाद का आधार मस्तिष्क के संदेशों को अंगों तक पहुँचाने वाले न्यूरोट्रांसमिटर्स जैसे कि सेरोटोनिन में आई असमानता भी होता है।

सेरोटोनिन अवसाद के मामले में काफी महत्त्वपूर्ण न्यूरोट्रांसमिटर है। यहाँ तक कि महिलाओं में एस्ट्रोजन और प्रोजेस्टेरोन भी अवसाद में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकते हैं। बहुत-सी दवाएँ भी हैं, जो अवसाद पैदा करती हैं। ये गैस, हाई बीपी, कब्ज, पार्किन्सन बीमारी, सूजन जैसी समस्याओं के कारण भी हो सकती हैं। थोड़ी देर के लिए या फिर एक निश्चित अवधि तक एरोबिक जैसे व्यायाम करने से शरीर में ऐसे रसायन के स्राव तेज हो जाते हैं, जो अवसाद कम करने में मदद करते हैं।

विभिन्न योगासनों, प्राणायाम आदि से अवसाद को सँभालने में मदद मिलती है। ध्यान योग भी इसमें सहायक है। अवसाद को रोकने और उसके उपचार में अन्य लोगों से सहायता मिलना बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। ये लोग रिश्तेदार, मित्र या फिर आस-पड़ोस के भी हो सकते हैं। इसके लिए एक मजबूत सामाजिक दायरे का होना बहुत जरूरी है।

अवसादग्रस्त व्यक्ति में निराशा, चिड़चिड़ाहट, प्रसन्नता का अभाव, भूख और वजन का कम या ज्यादा हो जाना, ऊर्जापूर्ण न रहना, मन उखड़ा रहना, थकान, अनिद्रा या बहुत ज्यादा सोना, खुद के निरुपयोगी होने की भावना का पनपना स्वाभाविक है। अपराधबोध, एकाग्र होकर काम न कर पाना और कभी-कभी मृत्यु या आत्महत्या जैसे विचार आने जैसे लक्षण आमतौर पर लगभग दो-तीन सप्ताह तक चलते हैं।

इन लक्षणों की पहचान में यह भी देखना जरूरी होता है कि कहीं ये किसी दवाई या किसी तात्कालिक समस्या के कारण तो नहीं हैं, लेकिन लंबे समय तक यदि ऐसे लक्षण हों तो हर हाल में मनोवैज्ञानिक परामर्श लेना उचित रहता है। अध्ययनों की मानें तो घोर अवसाद के दौर बीस सप्ताह जितने लंबे भी हो सकते हैं। बच्चों में उदासी, चिड़चिड़ाहट, पसंद के कामों में अरुचि, सिरदरद, अनिद्रा, थकान जैसे लक्षणों द्वारा भी अवसाद अभिव्यक्त हो सकता है। अवसाद के इलाज में कॉग्निटिव बिहेवियरल साइकोथेरेपी और गंभीर मामलों में दवाओं की भी जरूरत पड़ती है।

इसका इलाज लंबी अवधि तक चल सकता है। यह मरीज की स्थिति पर निर्भर करता है। गंभीर शारीरिक समस्याएँ जो प्राणघातक हों या कि उनसे पूरा जीवन प्रभावित हो रहा हो; जैसे डायबिटीज—उनमें भी रोगी अवसादग्रस्त हो सकता है। हाइपोथाइरॉयडिज्म, जिसमें थाइरायड ग्रंथि हॉर्मोन का स्राव कम करती है—उसमें भी अवसाद पनपने के मामले देखे गए हैं।

पश्चात्तापः पापकृतां पापानां निष्कृतिः परा।
सर्वेषां वर्णितं सद्भिः सर्वपापविशोधनम्॥

अर्थात अपने कर्मों पर पश्चात्ताप ही पाप करने वाले पापियों के लिए सबसे बड़ा प्रायश्चित है।

विभिन्न अध्ययनों में पाया गया है कि अवसाद का संबंध भयंकर दरद की समस्याओं से भी होता है। जैसे कि तनाव में होने वाला सिरदरद, माइग्रेन, आर्थराइटिस, फाइब्रोमाएल्जिया आदि। अगर किसी को पक्षाघात हुआ है या दिल का दौरा पड़ा है तो भी वह अवसादग्रस्त हो सकता है। अगर अभिभावकों में से कोई भी अवसादग्रस्त है तो बच्चों को भी अवसाद घेर सकता है।

अवसादग्रस्त लोगों को बेरोजगारी और कम आय की समस्या की आशंका होती है। अवसादग्रस्त लोगों की नशे के आदी होने की आशंका बढ़ जाती है। अवसाद के कई मरीजों में नशे की आदत भी पनप जाती है व निकोटिन पर निर्भरता बढ़ जाती है। अवसाद भावनात्मक अस्थिरता का परिणाम है। अतः अवसाद से बचने के लिए हमें भावनात्मक रूप से परिपक्व होना चाहिए। अपनी भावना एवं ऊर्जा को रचनात्मक कार्य में लगाना चाहिए। सकारात्मक एवं रचनात्मक मनोवृत्ति अपनाने का अभ्यास करने से अवसाद से मुक्ति पाई जा सकती है। ❑

ब्रह्मवर्चस-देव संस्कृति शोध सार— 160

खेलों से व्यक्तित्व विकास

खेलों का व्यक्तित्व विकास की दृष्टि से अत्यंत महत्त्व है। इस महत्त्व के परिणामस्वरूप ही आधुनिक विश्व ने बच्चों की शिक्षा के साथ-साथ खेल के महत्त्व को समझा और शारीरिक शिक्षा को पाठ्यक्रम के अंतर्गत अनिवार्य विषय के रूप में सम्मिलित किया। आज विद्यालयों, महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों जैसे सभी शैक्षणिक निकायों में शारीरिक शिक्षा एवं खेल विभाग अलग से स्थापित किए जाते हैं और इनके शिक्षण कार्य हेतु प्रशिक्षित शिक्षकों को रखा जाता है।

व्यक्तित्व के बहुआयामी व समग्र विकास तथा स्वास्थ्य की दृष्टि से खेलों का जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। मानव सभ्यता के प्राचीनतम समय में भी खेलों के जीवन के साथ संबंधों को प्रकट करने वाले ऐतिहासिक प्रमाण और परंपराओं को देखा जा सकता है। भारत, ग्रीस, यूनान, चीन जैसे देशों की सामाजिक और सांस्कृतिक विरासत में अनेक तरह के खेलों का समन्वय उपलब्ध होता है।

आधुनिक युग में तो खेल एक स्वतंत्र क्षेत्र के रूप में प्राय: हर देश में मौजूद है और लोग इससे अपने अनेक तरह के उद्देश्यों को लेकर जुड़ते हैं, जैसे—आर्थिक, व्यावसायिक, मान-प्रतिष्ठा, स्वास्थ्य रक्षा, प्रतिस्पर्धा, रोजगार आदि, लेकिन शिक्षा के साथ खेलों की संबद्धता का मुख्य उद्देश्य स्वास्थ्य संरक्षण और व्यक्तित्व विकास ही है।

विद्यार्थियों के लिए खेलों में भागीदारी सिर्फ उनके शारीरिक स्वास्थ्य और शारीरिक क्षमताओं के विकास व कुशलता के स्तर को ही मात्र नहीं बढ़ाती है, अपितु उनके मानसिक और भावनात्मक पक्षों को भी उच्चस्तरीय क्षमताओं से सुसज्जित करती है। खेल से उनके आंतरिक व्यक्तित्व में उत्साह, जीवट, समूह भावना, नेतृत्व क्षमता, स्व-अनुशासन, नियंत्रण, स्वाभिमान, आत्मसंतुष्टि, स्व-चेतना, समायोजन क्षमता, रचनात्मकता, कार्यकुशलता, धैर्य जैसे अनेकों बहुमूल्य गुणों एवं क्षमताओं का विकास होता है।

इन विकसित क्षमताओं के फलस्वरूप विद्यार्थी का शैक्षणिक और सामाजिक व्यवहार गुणवत्तापूर्ण बनता है और व्यक्तिगत जीवन में स्वास्थ्य संरक्षण और आरोग्य का सुफल उसे स्वत: ही प्राप्त हो जाता है। इसके साथ ही अच्छे खिलाड़ी बनने पर मान-प्रतिष्ठा, नौकरी, आर्थिक लाभ आदि अनेक सुअवसर भी खेलों में भागीदारी करने वाले विद्यार्थियों को उपलब्ध होते हैं। सबसे बड़ी उपलब्धि तो विद्यार्थियों के समग्र विकास के रूप में उन्हें प्राप्त होती है। शारीरिक, मानसिक और आत्मिक तीनों स्तरों पर विद्यार्थी का व्यक्तित्व संतुलित, सुविकसित और प्रखर बनता है।

खेलों की इन बहुगुणित विशेषताओं और लाभों के कारण ही वर्तमान की शिक्षा-व्यवस्था में खेल को एक अनिवार्य विषय के रूप में पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया गया है, परंतु यह एक दु:खद पहलू है कि शिक्षण संस्थानों द्वारा इस विषय को जितनी प्राथमिकता देनी चाहिए, वह प्राय: दिखाई नहीं देती है। इस विषय की संवेदनशीलता, महत्ता और आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए देव संस्कृति विश्वविद्यालय के शिक्षाशास्त्र विभाग में एक विशिष्ट शोधकार्य संपन्न कराया गया है। यह शोध अध्ययन सन् 2016 में शोधार्थी गरिमा अग्रवाल द्वारा श्रद्धेय कुलाधिपति डॉ0 प्रणव पण्ड्या के विशेष संरक्षण एवं डॉ0 आर0 पी0 कर्मयोगी के कुशल निर्देशन में पूरा किया गया है। इस शोध का विषय है—**'कंपेरेटिव स्टडी ऑफ हॉयर सेकंडरी स्कूल्स स्टूडेंट इनक्लाइंड एंड नान-इनक्लाइंड टू स्पोर्ट्स इन रिलेशन टू पर्सनेलिटी एंड एकेडमिक एचिवमेंट।'**

प्रायोगिक एवं वैज्ञानिक रीति से संपन्न किए गए इस तुलनात्मक एवं विवेचनात्मक अध्ययन को पूरा करने के लिए शोधार्थी द्वारा उत्तराखंड राज्य के हरिद्वार जिले से उच्च माध्यमिक विद्यालयों के 10वीं और 12वीं के 200 विद्यार्थियों का चयन किया गया। इनमें शासकीय विद्यालयों के 100 एवं गैर-शासकीय विद्यालयों के 100 विद्यार्थी सम्मिलित थे।

ये सभी विद्यार्थी खेलों में रुचि रखने वाले तथा किसी-न-किसी खेल में भागीदारी करने वाले थे। इसी अनुपात में खेल में अरुचि अथवा भागीदारी करने वाले विद्यार्थियों का भी चयन कर उन्हें प्रयोग अध्ययन में सम्मिलित किया गया। इन चयनित विद्यार्थियों में महिला व पुरुष का अनुपात समान रखा गया।

आँकड़ों के संग्रहण के लिए जिन तकनीकों का उपयोग किया गया, वे हैं-1) आईजेन्क पर्सनिलिटी क्वेश्चनेअर-R (EQR-R) तथा 2) कक्षा 10वीं और 12वीं का परीक्षा परिणाम। अध्ययन में व्यक्तित्व क्षमताओं के मापन हेतु पर्सनिलिटी टेस्ट एवं शैक्षणिक उपलब्धियों को ज्ञात करने के लिए परीक्षा परिणाम का उपयोग किया गया।

दोनों से प्राप्त आँकड़ों का सांख्यिकीय विश्लेषण करने पर शोधार्थी द्वारा परिणाम के रूप में यह पाया गया कि खेल का विद्यार्थी के व्यक्तित्व विकास एवं शैक्षणिक उपलब्धियों पर सकारात्मक और सार्थक प्रभाव पड़ता है। इन प्रभावों की विस्तृत व्याख्या शोधकार्य के निष्कर्ष के अंतर्गत बीस बिंदुओं के माध्यम से प्रस्तुत की गई है।

शोध परिणाम का दूसरा महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि जिन विद्यालयों में खेल कक्षा के लिए प्रशिक्षक एवं स्थान की व्यवस्था तथा विद्यार्थियों की खेलों में भागीदारी सुनिश्चित करने की व्यवस्था है; वहाँ के विद्यार्थियों का व्यक्तित्व एवं शैक्षणिक स्तर उन विद्यार्थियों की अपेक्षा ज्यादा गुणवत्तापूर्ण है। जहाँ विद्यालयों में खेल संबंधी किन्हीं भी गतिविधियों को संचालित नहीं किया जाता है।

इस अध्ययन के आधार पर शोधार्थी का मत है कि अभिभावक, शिक्षक, पाठ्यक्रम निर्माता, विद्यालय, विद्यार्थी, समाज, सरकार सभी को विद्यालयी शिक्षा में खेल के महत्त्व को जानते हुए जागरूकता का प्रयास करना चाहिए। इसके लिए विशेष कार्यशाला, संगोष्ठी और योग व खेल आदि की प्रायोगिक कक्षाएँ भी कराई जानी चाहिए।

इस अध्ययन के अंतर्गत किए गए सर्वे में यह देखा गया है कि शारीरिक शिक्षा एवं खेल जैसे महत्त्वपूर्ण व अनिवार्य विषय के प्रति जागरूकता के अभाव में अत्यंत उपेक्षा एवं लापरवाही बरती जा रही है। कई विद्यालयों में तो खेल की कक्षा के निर्धारित समय को अवकाश का समय मानकर यों ही व्यतीत कर दिया जाता है, कहीं प्रशिक्षित आचार्य का तो कहीं सुविधाओं का अभाव है अथवा विद्यालय की प्राथमिकताओं में ही यह विषय सम्मिलित नहीं है।

सर्वेक्षण में शोधार्थी ने यह पाया कि शारीरिक शिक्षा की कक्षा के समय को कई विद्यालयों में विद्यार्थियों द्वारा अपने अन्य विषयों के गृहकार्य करते हुए अथवा टहलते-घूमते हुए बिताया जा रहा है तो वहीं शिक्षक इस अवधि में अपने दूसरे कार्यों को संपन्न करने में व्यस्त है। विद्यालयों में ऐसी स्थिति एवं अवस्था अत्यंत शोचनीय एवं चिंताजनक है।

इस दिशा में विद्यालय प्रशासन, प्राचार्य, आचार्य, विद्यार्थी, अभिभावक, समाज सभी को जागरूक बनने और शारीरिक शिक्षा के महत्त्व को देखते हुए इसके प्रति रुचि और प्राथमिकता को अपनाने की आवश्यकता है। यह शोधकार्य विद्यालयों की खेल विषय के प्रति दृष्टि, विद्यार्थियों की रुचि और भागीदारी का वैज्ञानिक रीति से तथ्यात्मक परिणाम सामने लाता है। अध्ययन के परिणामों विद्यालयी शिक्षा, विद्यार्थी और जनसामान्य के लिए भी कुछ अत्यंत महत्त्वपूर्ण और उपयोगी तथ्य सामने आए हैं।

यह शोध विद्यार्थी जीवन में शारीरिक शिक्षा एवं खेल की उपयोगिता को प्रस्तुत करते हुए उनके शैक्षणिक स्तर की गुणवत्ता और व्यक्तित्त्व के समग्र विकास की दृष्टि से खेलों के महत्त्व एवं व्यापक प्रभाव को दरसाता है। खेलों से विद्यार्थी के साथ-साथ समाज एवं शिक्षा जगत् के भी कई महत्त्वपूर्ण उद्देश्यों की पूर्ति सहज होती है।

जैसे एक खिलाड़ी का जीवन अनुशासन, संयम, कुशलता, नैतिकता, ईमानदारी, समायोजन क्षमता, निर्णय क्षमता, उत्साह, आत्मविश्वास, स्वप्रेरणा, सहयोगिता जैसे जीवनमूल्यों से सुशोभित होता है; जिनका लाभ परिवार, समाज और शिक्षा-क्षेत्र सभी को समान रूप से प्राप्त होता है। मूल्य शिक्षा एवं नैतिक शिक्षा प्रदान करने का लक्ष्य शिक्षा जगत् की एक बड़ी चुनौती रही है, जिसे खेलों के माध्यम से सहजता से प्राप्त किया जा सकता है।

वर्तमान के प्रतिस्पर्धात्मक वातावरण में विद्यार्थियों के शैक्षणिक स्तर के मापदंड अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। अच्छे अंक, अच्छी ग्रेड न केवल उनके कैरियर की दृष्टि से अपितु आत्मविश्वास एवं मानसिक अवस्था की दृष्टि से भी आवश्यक हैं।

तनाव, कुंठा, क्रोध, आत्मग्लानि, चिंता जैसी मानसिक परेशानियाँ कई बार विद्यार्थी में उसके कम अंक अथवा अपने

साथियों की तुलना में कमजोर प्रदर्शन के कारण ही उत्पन्न होती हैं, जो उसके व्यक्तित्व विकास पर नकारात्मक प्रभाव डालती हैं। ऐसे में यह शोध अध्ययन दरसाता है कि खेलों में भागीदारी से विद्यार्थी का शैक्षणिक स्तर गुणवत्तापूर्ण और विकसित बनता है एवं उनके परीक्षा परिणामों पर खेलों की गतिविधियों का अत्यंत सकारात्मक एवं लाभकारी प्रभाव पड़ता है।

अध्ययन से यह स्पष्ट है कि विद्यार्थी जीवन में स्वास्थ्य, शिक्षा, आरोग्य और व्यक्तित्व विकास के लिए खेलों की, शारीरिक शिक्षा जैसे विषयों की महत्त्वपूर्ण भूमिका और उपादेयता है।

अत: इस दिशा में सभी स्तरों पर जागरूकता उत्पन्न कर जिम्मेदारीपूर्वक शारीरिक शिक्षा विषय का शिक्षण-प्रशिक्षण किया जाना चाहिए और सभी विद्यार्थियों में इसके महत्त्व को समझाते हुए रुचि उत्पन्न करने वाले सार्थक प्रयास किए जाने चाहिए। ❑

बुद्ध अपने प्रवास में एक बार वैशाली आए। उनके साथ दस हजार शिष्य भी थे। सभी शिष्य प्रतिदिन भिक्षा माँगने जाते थे। वैशाली में ही आम्रपाली का महल भी था। वह वैशाली की सबसे सुंदर स्त्री और नगरवधू थी। एक दिन उसके द्वार पर एक भिक्षुक आया।

उस भिक्षुक को देखते ही वह उसके प्रेम में पड़ गई। उसने भिक्षा देने के बाद कहा—"तीन दिन बाद वर्षाकाल प्रारंभ होने वाला है। आप उस अवधि में महल में ही रहें।"

भिक्षु ने कहा—"तथागत मुझे अनुमति देंगे तो मैं रुक जाऊँगा।" युवक भिक्षु ने बुद्ध को सारी बात बताई। बुद्ध ने उसे कुछ पल देखा और आम्रपाली के महल में रहने की अनुमति दे दी। तीन दिन बाद युवक भिक्षु आम्रपाली के महल में चला गया। अन्य भिक्षु उस भिक्षु के संबंध में अनर्गल चर्चाएँ करने लगे।

बुद्ध ने कहा—"मुझे उस पर पूर्ण विश्वास है, वह चार माह उपरांत लौट आएगा।" सचमुच चार माह बाद भिक्षु लौट आया। पीछे-पीछे आम्रपाली भी आ गई। उसने बुद्ध से भिक्षुणी संघ में प्रवेश देने की आज्ञा माँगी।

आम्रपाली ने कहा—"मैंने भिक्षु को पाने के हर संभव प्रयास किए, पर उसके आपके प्रति समर्पण से मैं हार गई। उसके आचरण ने बता दिया कि आपके चरणों में ही शांति व मुक्ति का मार्ग है। अपनी संपदा मैं संघ को दान में देती हूँ।"

संगीत के स्वर से थिरकते जड़-चेतन

भारतीय लोकजीवन में संगीत और अध्यात्म अभिन्न रूप से जुड़े हुए हैं। भजन हो, सूफी गायन हो, गुरबानी की गूँज हो या फिर प्रार्थना—सबका उद्देश्य सर्वशक्तिमान से एकाकार होना है। नारद पुराण में एक प्रसंग आता है, जिसमें नारद जी से भगवान विष्णु कहते हैं—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

अर्थात हे नारद! न तो मैं वैकुंठ में रहता हूँ और न योगियों के हृदय में। मैं तो वहाँ रहता हूँ, जहाँ मेरे भक्तजन कीर्तन करते हैं। कहने का अर्थ है कि संगीत के माध्यम से ईश्वर को ज्यादा आसानी से प्राप्त किया जा सकता है। भारतीय संस्कृति में संगीत हमेशा से आध्यात्मिक उच्चता को प्राप्त करने का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण साधन रहा है।

अदृश्य जगत् की कार्यप्रणाली पर हम जिधर नजर डालते हैं, उधर ही ऐसा लगता है कि एक दिव्य संगीत से दसों दिशाएँ झंकृत हो रही हैं, हर तरफ एक स्वरलहरी गूँज रही है। भगवान कृष्ण की मुरली, माँ सरस्वती की वीणा का सुंदर संगीत गूँज रहा है और उसकी स्वरलहरी पर मुग्ध होकर विश्व की जड़-चेतन सत्ता का प्रत्येक परमाणु नृत्य कर रहा है। अक्षर परब्रह्म परमात्मा की अनुभूति के लिए वास्तव में संगीत-साधना से बढ़कर अन्य कोई अच्छा माध्यम नहीं है।

यही कारण है कि यहाँ की उपासना पद्धतियों से लेकर कर्मकांडों तक में हर जगह स्वर संयोजन अनिवार्य रहा है। मंत्र भी वास्तव में छंद ही हैं। वेदों की हर ऋचा का कोई ऋषि, कोई देवता तो होता ही है, उसका कोई- न-कोई छंद भी होता ही है। इसका अर्थ यह है कि उस मंत्र के उच्चारण की ताल, लय और गतियाँ भी पूर्व से ही निर्धारित हैं।

शास्त्रकारों ने कहा है—**'स्वरेण संल्लीयते योगी'** अर्थात स्वर-साधना द्वारा ही योगी स्वयं को तल्लीन करते हैं। संगीत से मनुष्य की क्रियाशक्ति बढ़ती है और आध्यात्मिक आनंद की अनुभूति होती है। ऋग्वेद की एक ऋचा है—**स्वरन्ति त्वा सुते नरो वसो निरेक उक्थिनः।** अर्थात हे शिष्य! तुम अपने आत्मिक उत्थान की इच्छा से मेरे पास आए हो। मैं तुम्हें ईश्वर का उपदेश देता हूँ, तुम उसे प्राप्त करने के लिए संगीत के साथ पुकारोगे तो वह तुम्हारी हृदय गुहा में प्रकट होकर अपना प्रेम प्रदान करेगा।

पुराणों में कहा गया कि ब्रह्मा जी के हृदय में उल्लास उत्पन्न हुआ तो वे गाने लगे। उसी अवस्था में उनके मुख से गायत्री छंद की उत्पत्ति हुई—**'गायत्री मुखादुदपतदिति च ब्राह्मणम्।'** महान गणितज्ञ पाइथोगोरस ने भी कहा था कि 'संगीत आत्मा की उन्नति का सबसे अच्छा साधन है।'

कभी यह न सोचें कि हमारी क्षमता की इतिश्री यहीं तक है। नवीन स्फूर्ति के लिए नई दिशाओं की तलाश करें और नए काम सीखने में मन लगाएँ। यही आपको आनंद देंगे।

गायन के दौरान साधक का रोम-रोम पुलकित हो जाता है। ऐसा लगता है कि एक अदृश्य शक्ति से साक्षात्कार हो गया।

संगीत की उच्चतर अवस्था इस क्षण के अस्थायित्व को स्थायित्व में परिणत कर देती है। इसके लिए सुर की अनवरत आराधना करनी पड़ती है। बहुत साधना और अनुभव के बाद यह स्थिति आती है और जब यह स्थिति आती है तो सांसारिक बातें गौण हो जाती हैं। स्वरों में, रागों में यानी संगीत में ऐसी शक्ति है, जो हर तरह के तनाव को दूर कर आनंद की अनुभूति कराती है। इस तथ्य की पुष्टि वैज्ञानिक शोधों से भी होती है। एक प्रयोग के अंतर्गत जब पेड़-पौधों को पाश्चात्य संगीत को सुनाया गया तो वे मुरझा गए, लेकिन जब उन्हें भारतीय शास्त्रीय संगीत सुनाया गया तो वे खिल उठे। संगीत का प्रभाव जड़-चेतन हर घटक पर पड़ता है। ❑

भावनात्मक बुद्धिमत्ता

पहले आईक्यू के आधार पर व्यक्ति की दक्षता का परीक्षण किया जाता था, लेकिन आज ईक्यू, एसक्यू जैसे पैमाने आ गए हैं, जिसमें ईक्यू भावनात्मक बुद्धिमता से जुड़ा हुआ है। कभी उच्च आईक्यू को व्यक्ति की योग्यता व जीवन की सफलता से जोड़कर देखा जाता था, लेकिन इसके आधार पर जब व्यक्तिगत जीवन में सफल व्यक्तियों को पारिवारिक, सामाजिक एवं सामूहिक स्तर पर प्राय: एक असफल जीवन जीते देखा गया तो, समझ आया कि आईक्यू पर्याप्त नहीं। इसके साथ भावनात्मक समझ से जुड़े ईक्यू की बात उठी।

सन् 1950 में प्रकाशित अपनी पुस्तक, 'इमोशनल इंटेलिजेंस: व्हाई इट केन मैटर मोर देन आईक्यू' में अमेरिकी मनोवैज्ञानिक डेनियल गोलमैन ने सबसे पहले इसकी पर्याप्त विस्तार से चर्चा की, हालाँकि इस शब्द का सबसे पहले उपयोग यूनानी दार्शनिक अरस्तू को करने वाला माना जाता है।

डेनियल गोलमैन का दावा रहा कि व्यावहारिक जीवन की समग्र सफलता में 80 प्रतिशत से अधिक भावनात्मक बुद्धिमता की भूमिका रहती है, जबकि आईक्यू का महत्त्व 20 प्रतिशत से भी कम है। साथ ही उनका यह भी मानना था कि महिलाओं में प्राय: भावनात्मक बुद्धिमता अधिक पाई जाती है और वर्तमान परिस्थितियों में भावनात्मक बुद्धिमत्ता का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। इस आधार पर भविष्य में अधिकांश उच्च पदों पर महिलाओं के पहुँचने की संभावनाएँ बढ़ेंगी।

डेनियल गोलमैन ईक्यू को 5 क्षमताओं का समूह मानते हैं, जिसके अंतर्गत सेल्फ अवेयरनैस अर्थात स्व-जागरूकता, सेल्फ रेग्यूलेशन अर्थात आत्म-नियमन, सेल्फ मोटिवेशन अर्थात आत्म-अभिप्रेरण, एम्पैथी अर्थात समानुभूति तथा सोशल स्किल्ज अर्थात सामाजिक दक्षताएँ शामिल हैं। इस तरह भावनात्मक बुद्धिमता का अर्थ है, व्यक्ति का अपने तथा दूसरों के मनोभावों को समझना, उन पर नियंत्रण करना तथा अपने उद्देश्य प्राप्ति हेतु उनका सर्वोत्तम उपयोग करना।

भावनात्मक बुद्धिमता के आधार पर ही व्यक्ति अपने गुणों की समझ व परिस्थितियों की पहचान आसानी से कर पाता है। इसके आधार पर व्यक्ति अपने बातचीत के ढंग, आचरण तथा संबंधों को मजबूत करने में सफल होता है। अपने आंतरिक संतुलन के साथ कार्यक्षेत्र में अंतर्संबंधों को बेहतर बनाने में ईक्यू महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

इस तरह व्यक्ति अपने भाव-संवेगों के प्रति संवेदनशील होता है, दूसरों के वाणी-व्यवहार के साथ **उनकी दैहिक भाषा के माध्मय से भी समझने में सक्षम होता है।** अपने संवेगों को अपने विचारों के साथ संबद्ध कर, उचित निर्णय के साथ समस्या के समाधान की ओर बढ़ता है। अपने संवेगों की प्रकृति व तीव्रता को समझते हुए नियंत्रित व्यवहार करता है, जिससे कि आपसी सामंजस्य के साथ शांति को प्राप्त हो सके।

भावनात्मक बुद्धिमता के साथ व्यक्ति अपना सटीक स्व-मूल्यांकन कर पाता है और भावनाओं की अभिव्यक्ति करने में सक्षम होता है। यह उसके अंतर्वैयक्तिक संचार कौशल को बेहतर बनाता है, जिससे आपसी संबंधों में उचित समझ, उदारता व सहिष्णुता का समावेश होता है। ईक्यू एक प्रेरक व आशावादी दृष्टिकोण बनाए रखने में सहायक रहता है और यह व्यक्ति व समूह की कार्यक्षमता में बढ़ोत्तरी करता है तथा नेतृत्वक्षमता के विकास व सशक्तीकरण में सहायक रहता है। इसके रहते विभिन्न प्रकार की प्रकृति के व्यक्तियों के बीच भी सामंजस्य को स्थापित करना संभव होता है तथा यह उचित व सही निर्णय लेने में सहायता करता है।

इस आधार पर जीवन के हर क्षेत्र में ईक्यू के महत्त्व को समझा जा सकता है। प्रशासन, नौकरशाही से लेकर सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक अर्थात जीवन के हर क्षेत्र में इसकी उपयोगिता को देखा जा सकता है। व्यक्तिगत स्तर पर शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य एवं संतुलन में इसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। इसके साथ तनाव प्रबंधन प्रभावी

ढंग से हो पाता है, जिससे उच्च रक्तचाप, मधुमेह, हृदयाघात जैसे रोगों का खतरा कम हो जाता है। व्यक्ति की प्रतिरोधक क्षमता बढ़ती है तथा उसे दीर्घायुष्य का वरदान मिलता है।

सार रूप में, ईक्यू से मानवीय संबंध स्वस्थ और संतुलित बनते हैं, जीवन की चुनौतियों का सकारात्मक भाव के साथ सामना करने की क्षमता विकसित होती है तथा समस्याओं के समाधान की दिशा में उचित कदम उठते हैं और जीवन के हर क्षेत्र में सफलता सुनिश्चित होती है।

ईक्यू में कमी होने पर व्यक्ति आसानी से तनावग्रस्त हो जाता है। अपनी भावनाओं को सही ढंग से व्यक्त नहीं कर पाता। दूसरों की भावनाओं का स्तर व गहराई को समझने में उसे कठिनाई होती है। बहुत जल्द दूसरों के प्रति धारणा बनती है व धैर्य के साथ दूसरों को परखने का भाव नहीं रहता। न्यून ईक्यू के रहते दूसरों की गलतियों को ऐसे लोग आसानी से माफ नहीं कर पाते तथा अंदर- ही-अंदर अनावश्यक आक्रोश व तनाव पाले रहते हैं। ऐसे में व्यक्ति बहुत जल्द गलतफहमी का शिकार हो जाता है, आसानी से आहत होता है तथा छोटी-छोटी बातों का बुरा मान बैठता है। साथ ही अपने जीवन की कठिनाइयों के लिए दूसरों को जिम्मेदार ठहराता है।

इस तरह न्यून ईक्यू एक संतुलित एवं परिपक्व जीवन की ओर बढ़ने से रोकता है। ऐसे में आवश्यक हो जाता है कि ईक्यू में सुधार किया जा सकता। हालाँकि ईक्यू अचानक विकसित नहीं होता। अभ्यास के द्वारा धीरे-धीरे इसमें बढ़ोत्तरी की जा सकती है।

इस हेतु दूसरों के साथ व्यवहार में देखें कि लोगों के प्रति आपकी कैसी प्रतिक्रिया रहती है, क्या आप बहुत जल्द निष्कर्ष पर आते हैं। अत: स्वयं को दूसरों के स्थान पर रखें तथा उनके पक्ष को अधिक उदारतापूर्वक एवं खुले दिल से स्वीकार करें। बहुत अधिक आत्मकेंद्रित न हों तथा दूसरों का उचित ध्यान रखें व सम्मान दें। ईमानदारी के साथ अपना मूल्यांकन करें व अपनी कमजोरी को समझें तथा इनको स्वीकारने का साहस करें और सुधार के लिए आवश्यक कदम उठाएँ।

तनावपूर्ण स्थिति में भी अपना भावनात्मक संतुलन बनाएँ रखें तथा अपने वाणी-व्यवहार में व्यतिक्रम न आने दें। अपने व्यवहार की जिम्मेदारी लें, यदि किसी की भावनाएँ जाने-अनजाने में या आवेश में आहत हो गई हैं, तो इसके लिए क्षमा माँगें। सार रूप में दूसरों के साथ वह व्यवहार न करें, जो हमें अपने लिए पसंद नहीं। यही भावनात्मक बुद्धिमत्ता की पहचान है। ❑

परमभक्त नरसी मेहता जूनागढ़ में गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए भक्त और दु:खियों की सेवा में लीन रहते थे। एक दिन एक जाटव कुलोत्पन्न भक्त ने उनसे पूछा—"क्या आप मेरे घर पधारकर संकीर्तन करके, उसे पवित्र कर सकते हैं?" मेहता जी बोले—"क्यों नहीं? तुम तैयारी करो, मैं समय पर वहाँ पहुँचकर कीर्तन करूँगा।" नरसी मेहता हरिजन के घर जा पहुँचे। उन्होंने वहाँ तन्मय होकर कीर्तन किया और प्रसाद ग्रहण किया। उनकी जाति के कुछ रूढ़िवादी नागर ब्राह्मणों को जब यह पता लगा तो उन्होंने पंचायत करके नरसी मेहता को अंत्यज (जाटव) के घर कीर्तन करने के आरोप में जाति से बहिष्कृत कर दिया। नरसी मेहता ने नागर जाति के मुखिया से कहा—"भगवद्भक्तों की कोई जाति नहीं होती। जो भी एक साथ संकीर्तन करते हैं, वे सब एकाकार होकर एक जाति के हो जाते हैं।" मुखिया नरसी जी का मुँह देखता रह गया। सत्यत: भक्त जाति-भेद के बंधनों से ऊपर होते हैं।

युगगीता —267

तीन-प्रकार-की-होती है श्रद्धा

[श्रीमद्भगवद्गीता के श्रद्धात्रयविभागयोग नामक सत्रहवें अध्याय की दूसरी किस्त]

[इससे पूर्व की किस्त में श्रीमद्भगवद्गीता के सत्रहवें अध्याय के प्रथम श्लोक की व्याख्या की गई थी। श्रीमद्भगवद्गीता का सोलहवाँ अध्याय दैवी एवं आसुरी वृत्तियों वाले व्यक्तियों की विवेचना को समर्पित था, इसीलिए इसका नाम द्वैवासुरसम्पद्विभागयोग रखा गया था। इनमें से दैवी संपदा आत्मकल्याण के पथ को प्रशस्त करने वाली है तो आसुरी संपदा अधोगति की ओर उन्मुख करने वाली। उस अध्याय के अंत में श्रीभगवान ने अर्जुन से कहा था कि शास्त्रीय विधि को त्यागकर मनमाना आचरण करने वाले न तो सुख को प्राप्त कर पाते हैं, न शांति को और न ही परम गति को। इस वचन ने अर्जुन के मन में जिज्ञासा को उत्पन्न किया और उसी की अभिव्यक्ति के साथ सत्रहवें अध्याय का प्रारंभ होता है।

अर्जुन इस अध्याय के पहले श्लोक में पूछते हैं कि हे कृष्ण! जो मनुष्य शास्त्रीय विधि का त्याग करके श्रद्धापूर्वक पूजन करते हैं। उनकी निष्ठा फिर कौन-सी है, सात्त्विकी या राजसी या तामसी? ऐसा पूछने के पीछे का कारण व आधार यह है कि शास्त्रोक्त विधि को सही प्रकार से जानने-समझने वाले तो कम ही हैं। अनेक लोग तो बिना उसकी सही समझ रखे, मात्र श्रद्धापूर्वक पूजा-उपासना करते हैं। यदि उनकी पूजा-उपासना का मूल्यांकन इस आधार पर किया जाए कि वे शास्त्रीय विधि को जानते हैं या नहीं जानते हैं तो उनका पूजन आसुरी वृत्ति का हुआ, तामसी-राजसी हुआ। और यदि उनकी श्रद्धा को आधार मानें तो यह सात्त्विक हुआ, दैवी वृत्ति का हुआ। इसीलिए अर्जुन एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण प्रश्न भगवान श्रीकृष्ण से कहते हैं कि जिन मनुष्यों की पूजा-उपासना का क्रम शास्त्रीय रीति से नहीं है, परंतु उनकी श्रद्धा बरकरार है तो उनकी निष्ठा को किस प्रकार की निष्ठा माना जाए? ऐसा पूछने के पीछे एक कारण यह भी था कि जिस समय अर्जुन ये प्रश्न पूछ रहे थे, उसके कुछ ही समय बाद कलियुग का आगमन निर्धारित था। उसके साथ यह भी सुनिश्चित था कि कलियुग में शास्त्रविधि जानने वाले महाभारतकाल की तुलना में और भी कम हो जाएँगे। अतः एक तरह से अर्जुन ने यह प्रश्न भवितव्यता को परिप्रेक्ष्य में रखकर के ही पूछा।]

श्रीभगवान अब अर्जुन के प्रश्न का उत्तर देते हुए बोलते हैं—

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥2॥

शब्दविग्रह—त्रिविधा, भवति, श्रद्धा, देहिनाम्, सा, स्वभावजा, सात्त्विकी, राजसी, च, एव, तामसी, च, इति, ताम्, शृणु।

शब्दार्थ—मनुष्यों की (**देहिनाम्**), वह (शास्त्रीय संस्कारों से रहित केवल) (**सा**) स्वभाव से उत्पन्न (**स्वभावजा**), श्रद्धा (**श्रद्धा**), सात्त्विकी (**सात्त्विकी**), और (**च**), राजसी (**राजसी**), तथा (**च**), तामसी (**तामसी**), ऐसे (**इति**), तीनों प्रकार की (**त्रिविधा**), ही (**एव**), होती है (**भवति**), उसको (तू) (**ताम्**), मुझसे (**मत्तः**), सुन (**शृणु**)।

अर्थात श्रीभगवान बोले कि मनुष्यों की वह स्वभाव से उत्पन्न हुई श्रद्धा सात्त्विकी तथा राजसी और तामसी—ऐसे तीन प्रकार की होती है, उसके विषय में तुम मुझसे सुनो। यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि प्रश्न अर्जुन ने निष्ठा के विषय में पूछा है, परंतु श्रीभगवान उसे उत्तर श्रद्धा के विषय में देते हैं; क्योंकि जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, उसकी निष्ठा भी तदनुरूप ही होती है।

वे कहते हैं कि **'त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।'** अर्थात श्रद्धा तीन प्रकार की होती है और वो मनुष्यों के स्वभाव के अनुसार उत्पन्न होती है। जिसका जैसा स्वभाव होता है, उसकी वैसी ही श्रद्धा हो जाती है यानी सत्त्व भाव वाले व्यक्ति की श्रद्धा सात्त्विक, राजसी भाव वाले की राजसिक एवं तामसी भाव वाले की तामसिक श्रद्धा हो जाती है।

यहाँ सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य ध्यान देने योग्य यह है कि इस प्रश्न का उत्तर मात्र एवं मात्र भगवान ही दे सकते हैं; क्योंकि वे ही जीवों के परम सुहृद हैं, एवं प्राणिमात्र के कल्याण के लिए ही उनका अवतरण हुआ है। अर्जुन को उन्होंने अपनी करुणा की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है और उसी के माध्यम से वे अत्यंत गुह्य ज्ञान, सरल-सहज भाषा में जनसामान्य को उपलब्ध कराते हैं। समस्त चराचर जगत् की गति श्रीभगवान के ही आधीन है। प्रकृति के गुणों के प्रवाह में आकर कुछ प्राणी आसुरी वृत्ति में आसक्त हो जाते हैं, परंतु वे भी भगवान के अनुग्रह के अधिकारी होते हैं और इसलिए जब भगवान अर्जुन के प्रश्न का उत्तर देते हैं तो वे समस्त मानव जगत् की जिज्ञासाओं को भी शांत करते हैं।

इस जगत् में बुद्धि, कौशल एवं संवेदनाशक्ति के आधार पर मानव को श्रेष्ठतम प्राणी कहा जा सकता है। इसीलिए वेद इसे परमात्मा का अंश और ईश्वरीय चेतना की अभिव्यक्ति कहकर पुकारते हैं। आलंकारिक भाषा में इसे देवताओं की नगरी **'देवानाम् पुर अयोध्या'** अर्थात दिव्य शक्तियों का निवास स्थान कहकर के पुकारा जाता है। इसी मानव जीवन के अंदर परमेश्वर के परम भाव को प्राप्त कर पाने की संभावना विद्यमान है, किंतु मनुष्य आसुरी वृत्तियों में उलझकर, उनके प्रति आकर्षित होकर देवदुर्लभ मानव शरीर के सही प्रयोजन को भुला बैठता है। ऐसे में उसके भीतर श्रद्धा का जागरण ही उसे सही पथ पर लेकर के आता है।

श्रुतियाँ कहती हैं कि श्रद्धा वो होती है, जिसके माध्यम से मनुष्य अमृतत्व को प्राप्त करने का अधिकारी बनता है, केवल कामना भर कर लेने से कोई अमृतत्व को प्राप्त नहीं कर लेता—उसे उस परम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उचित पात्रता व सामर्थ्य विकसित करने होते हैं और उस पात्रता का आधार शास्त्र श्रद्धा को मानते हैं। कहा जाता है कि शेरनी का दूध स्वर्ण-पात्र में ही धारण किया जा सकता है, अन्य पात्र में नहीं। उसी प्रकार से अमृतत्व की प्राप्ति के लिए श्रद्धारूपी पात्रता अनिवार्य हो जाती है।

यहाँ श्रीभगवान उसी श्रद्धा के विषय में अर्जुन को बताते हैं और उसी के तीन प्रकारों की विवेचना हेतु यह अध्याय समर्पित है, इसीलिए इस अध्याय को श्रद्धात्रयविभागयोग कहकर पुकारा गया है। ऐसी सभी आध्यात्मिक जिज्ञासाओं के उत्तर गीता में मिल ही जाते हैं। इसीलिए भगवान व्यास ने गीता के लिए कहा है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

अर्थात संपूर्ण उपनिषदें गायें हैं और अर्जुन उनका बछड़ा है। जैसे बछड़े को देखते ही गायें वात्सल्य भाव से द्रवित हो जाती हैं और उनके स्तनों से दुग्ध प्रवाहित होने लगता है, उसी प्रकार से अर्जुन की शुद्ध जिज्ञासा देख उपनिषद्रूपी गायों का सार सर्वस्व दुग्ध रूप गीता के ज्ञान का प्रवाह स्वतः प्रवाहित होने लगा। गायें केवल बछड़े के लिए दूध नहीं देतीं, उसका अनुपान सभी करते हैं। उसी प्रकार से अर्जुन के प्रश्नों का उत्तर केवल उन्हीं के लिए भगवान नहीं देते, बल्कि सभी के लिए देते हैं। (क्रमशः)

एक विचारक से कुछ विद्यार्थियों ने प्रश्न किया—"प्रतिभा क्या है?" विचारक ने उत्तर दिया—"प्रतिभा एक दैवी स्तर की विद्युत चेतना है, जो मनुष्य के व्यक्तित्व और कृतित्व में असाधारण स्तर की उत्कृष्टता भर देती है। उसी के आधार पर अतिरिक्त सफलताएँ आश्चर्यजनक मात्रा में उपलब्ध की जाती हैं। प्रतिभाशाली अपने लिए असाधारण श्रेय और सम्मान और दूसरों को सही मार्गदर्शन दे पाने में सक्षम हो पाते हैं।"

बाँज (ओक) वृक्ष का रोचक संसार

बाँज हरी-भरी पत्तियों से युक्त सुंदर सदाबहार पेड़ हैं, जो भारत में पहाड़ी प्रांतों की शान हैं। ये स्वाभाविक रूप में जंगलों में उगते हैं और अपनी शोभा के कारण विदेशों में सड़क या पार्कों में भी लगाए जाते हैं। यह मूलत: उत्तरी गोलार्द्ध का वृक्ष है, जो एशिया, यूरोप, अमेरिका और उत्तरी अफ्रीका के उष्णकटिबंधीय क्षेत्रों में पाया जाता है। यह धीमी गति से बढ़ने वाला पेड़ है, जिसे पूरा विकसित होने में 20-25 वर्ष लग जाते हैं।

इसकी लाल, काली, सफेद, चमकीले रंगों की कई प्रजातियाँ हैं, जिनमें पत्तियाँ लगभग एक जैसी होती हैं, लेकिन रंग, आकार आदि में थोड़ा-बहुत अंतर होता है। रेगिस्तानी ओक बहुत प्रसिद्ध है। मध्यम आकार का यह पेड़ ऑस्ट्रेलिया में पाया जाता है। स्थानीय आदिवासी इसका उपयोग कपड़े से लेकर अस्त्र बनाने में करते हैं।

अँगरेजी में इसे ओक, हिंदी में बलूत, शाहबलूत या बाँज कहते हैं। इसका सामान्य जीवन लगभग 200 से 400 वर्ष होता है, 275 से 300 वर्ष के होते-होते यह सूखने लगता है। वहीं सफेद बाँज पेड़ों की आयु लगभग 500 से 600 वर्ष तक पाई गई है। इस समय कुछ ऐसे पेड़ भी हैं, जो 1000 वर्ष से भी अधिक आयु के हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में पेचांगा ग्रेट ओक ट्री सबसे पुराना बाँज वृक्ष है, जिसे 2000 वर्ष पुराना माना जाता है। बाँज का सबसे बड़ा व ऊँचा पेड़ गूज आइसलैंड स्टेट पार्क में है।

पाया गया है कि बाँज वृक्ष पृथ्वी पर मानव के अस्तित्व से पहले 6 करोड़ वर्ष पूर्व से विद्यमान है। इतने लंबे अंतराल में भी इसके विलुप्त न होने का कारण इसके बीज हैं, जो गोलाकार कठोर आवरण से ढके रहते हैं। इसके साथ इसकी पत्तियों में विशेष अम्लीय रसायन पाया जाता है, जो कीड़ों से अपना बचाव करता है। विश्व भर में इसकी लगभग 600 प्रजातियाँ पाई जाती हैं।

बाँज वृक्ष की ऊँचाई लगभग 50 से 70 फीट तक होती है और पूरी तरह से विकसित इसके पेड़ की शाखाएँ 50 फीट तक फैलती हैं। वसंत ऋतु में इसके विशाल पेड़ में दो तरह के फूल खिलते हैं, एक नर और दूसरा मादा। शाखा के एक भाग में नर फूल और उसी शाखा के दूसरे भाग पर मादा फूल होते हैं। नर फूल लंबे होते हैं, जो पीले-हरे रंग के गुच्छों में लटके हुए होते हैं। ये बहुत आकर्षक होते हैं, इन्हें कैटकिंस नाम से जाना जाता है।

इसका फल एक गिरी जैसा होता है, जिसे एकोर्न कहा जाता है, और यह एक कप आकार के आवरण से ढका होता है। एकोर्न का उत्पादन 20 से 50 वर्ष की आयु में प्रारंभ होता है। प्रत्येक एकोर्न में एक बीज होता है, जिसे परिपक्व होने में प्रजाति के आधार पर 6 से 18 माह लगते हैं। औसतन एक ओक वृक्ष 2000 से अधिक फल तैयार करता है, लेकिन इसके दस हजार फलों में से केवल 150 से ही पेड़ तैयार हो पाते हैं। अपने पूरे जीवनकाल में एक ओक वृक्ष से लगभग 1 करोड़ एकोर्न मिलते हैं।

कई पशु-पक्षिओं के लिए इसका फल आहार का एक प्रमुख साधन है। कबूतर, बत्तख, गिलहरी, चूहे और सूअर, हिरन, भालू जैसे जंगली जानवर एकोर्न का सेवन करते हैं। अधिक मात्रा में यह विषैला भी साबित होता है। इसलिए यह फल कुत्ते, भेड़, बकरियों और घोड़ों जैसे पालतू जानवरों के लिए कभी-कभी नुकसानदायक भी हो सकता है, क्योंकि इनमें अम्ल अधिक मात्रा में होता है। अत्यधिक मात्रा में सेवन से उनकी जान भी जा सकती है। इसके फल खाने के अलावा टेनिन बनाने के भी काम आते हैं, जिसका उपयोग चमड़े को पकाने में काम आता है।

बाँज का पेड़ सामयिक सिंचाई पसंद करता है, जो जंगलों में प्राय: इसे बारिश से उपलब्ध हो जाती है। साथ ही यह अपेक्षाकृत हलका सूखा सहन कर सकता है। पर्यावरण की दृष्टि से बाँज के पेड़ बहुत ही उपयोगी माने जाते हैं। एक तो इनकी जड़ों का फैलाव व सघनता जमीन को जोड़े रखती है व भूमि को अपरदन से रोकती है। दूसरा ये वर्षा जल को अवशोषित कर उसे भूमि में नमी के रूप में एकत्र करते हैं। इसलिए ओक के जंगलों के पास प्राकृतिक जल के स्रोत देखे जा सकते हैं। पहाड़ों में जल संरक्षण के क्षेत्र में

कार्य कर रहे लोग इस तथ्य को जानते हैं, अत: खाली जमीन में अधिक-से-अधिक बाँज के पेड़ लगाने की चेष्टा करते हैं।

इसकी लकड़ियाँ बहुत मजबूत होती हैं, जो सौ वर्ष तक टिकाऊ रह सकती हैं। आश्चर्य नहीं कि पुरातन काल में इसकी लकड़ी का उपयोग पानी में चलने वाले जहाज बनाने में किया जाता था। 19वीं सदी के मध्य तक ब्रिटिश शाही नौसेना ने जहाजों के निर्माण में बाँज का ही उपयोग किया था। आज भी फर्नीचर निर्माण से लेकर वाद्ययंत्रों को बनाने में इसका उपयोग किया जाता है। पश्चिमी देशों में इसकी लकड़ी से बने बैरल प्राय: शराब के निर्माण और भंडारण के लिए उपयोग किए जाते रहे हैं। माना जाता है कि इससे बनी बैरल में शराब में एक अलग ही तरह का रंग व स्वाद रहता है।

बाँज एक औषधीय गुणों से भी भरपूर वृक्ष है। ओक की छाल में घाव भरने की गुणवत्ता शामिल होती है। इसका उपयोग त्वचा की जलन व सूजन को ठीक करने में भी किया जाता है। दाँत दरद में इसका फल लाभकारी रहता है। यह मुँह के अल्सर से छुटकारा दिलाता है। पेट में होने वाली परेशानियों को दूर करने में सहायता करता है। बढ़ती आयु को छिपाने के लिए इसके पाउडर का उपयोग किया जा सकता है। मधुमेह रोगियों के लिए यह बहुत लाभदायक माना जाता है।

कई देशों में ओक को राष्ट्रीय वृक्ष का दरजा प्राप्त है, जैसे—अमेरिका, इंग्लैंड, एस्टोनिया, फ्रांस, जर्मनी, लाट्विया, लिथुआनिया, पोलैंड, वेल्स, सर्बिया आदि। इसके पत्तों को संयुक्त राज्य सशस्त्र बलों द्वारा सेना की रैंकों को दरसाने के लिए भी उपयोग किया जाता है। एक सिल्वर ओक लेफ्टिनेंट कर्नल या एक कमांडर की पदवी को दिखाता है। एक गोलाकार ओक का पत्ता एक लेफ्टिनेंट कमांडर या मेजर को इंगित करता है। कई देशों की पौराणिक कथाओं में, ओक के पेड़ को एक पवित्र पेड़ की संज्ञा दी गई है, जो इसके नानाविध गुणों व विशेषताओं को देखते हुए कोई आश्चर्य की बात नहीं। बाँज के पेड़ को शक्ति व धैर्य का प्रतीक माना जाता है और ये ही गुण हमें अपनाने चाहिए। ❑

कुरु प्रदेश का राजकुमार भगवान श्रीकृष्ण का भक्त था। उसने संकल्प लिया कि अपना समस्त जीवन वह वृंदावन में बिताएगा। उसने वृंदावन पहुँचकर यमुना तट पर कुटिया बनाई और वहीं उपासना करने लगा। एक बार मगध के राजा सपरिवार वृंदावन पहुँचे। जब राजा-रानी यमुना स्नान करने जा रहे थे तो उन्होंने उसी साधु (राजकुमार) को देखा।

पूजा समाप्ति के पश्चात मगधराज ने उससे कहा—"आप कहीं के राजकुमार लगते हैं?" साधु बोला—"भगवान श्रीकृष्ण की पावन लीलाभूमि में न तो कोई राजकुमार होता है और न राजा।" राजा उससे बहुत प्रभावित हुए। राजा बोला—"आप सदा सुखी रहेंगे।" साधु बोला—"क्या राजा व धनवान को कभी दु:ख नहीं मिलता? क्या उसके घर में कभी अकाल मृत्यु नहीं होती? सुखपूर्वक रहने की बात कहकर आप मुझे भक्ति से विरत क्यों करना चाहते हैं? श्रीकृष्ण की भक्ति में मुझे अनूठा सुख मिलता है।" राजा ने युवा साधु को गुरु मान लिया और स्वयं भी राजपाट त्यागकर वृंदावन में रहने लगे।

परमवंदनीया माताजी की अमृतवाणी

नारी का सम्मान जहाँ है

परमवंदनीया माताजी का जीवन, व्यक्तित्व एवं कृतित्व सदा से नारी उत्थान के लिए समर्पित रहे हैं। उन्होंने वर्षों तक अपना जीवन उन संकल्पों के आधार पर जिया, जिनसे प्रेरणा प्राप्त करके अनेक लोगों ने नारियों के उत्थान के लिए अनुकरणीय प्रयास किए। अपने इस प्रस्तुत उद्‌बोधन में वंदनीया माताजी इसी सत्य को स्पष्ट करते हुए कहती हैं कि भारतीय चिंतन में सदा से नारी को सम्मान के भाव से देखा जाता रहा है एवं जब तक उस गौरव की पुनर्प्राप्ति नारियों को नहीं होगी, तब तक भारतीय गौरव-गरिमा को वापस लौटा पाना संभव न हो सकेगा। मध्ययुग के समय में आए रूढ़िवादी चिंतन को दरकिनार करते हुए वे नारियों को आगे बढ़ने एवं समाज को एक अच्छी प्रेरणा देने का आवाहन करती हैं। आइए हृदयंगम करते हैं उनकी अमृतवाणी को.....

परिवार में संस्कार का आधार

गायत्री मंत्र हमारे साथ-साथ—

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।

प्रज्ञा पुत्रो, बेटियो और प्रज्ञा परिजनो! शिवाजी की माताजी मुसलिम शासन में वेतनभोगी कर्मचारी थीं। उनकी माता जीजाबाई के वे संस्कार थे, जिनने शिवाजी को महान बनाया। हम्मीरदेव के पिता में सामंतवादी कुसंस्कार थे; पर उन्हें ऐतिहासिक व्यक्तित्व मिला। इसमें उनकी माँ की भूमिका प्रमुख थी। जगद्‌गुरु शंकराचार्य संन्यासी पीछे बने, पहले उनकी मनोभूमि के आध्यात्मीकरण की प्रक्रिया माता के अंक में ही पूरी हुई थी। विश्वविजेता नैपोलियन के पिता साधारण सिपाही थे, पर उनके अंत:करण में अजेय संकल्पशक्ति का बीज उनकी माँ ने आरोपित किया था।

यह तो माताओं की बात हुई। पुरुष के निर्माण में नारी का प्रतिरूप सहधर्मिणी, धर्मपत्नी स्वरूप उससे कम गरिमायुक्त नहीं है। एक पुलिस कोतवाल के बिगड़े हुए बेटे मुंशीराम, जिन्हें छोटी उम्र में ही जुआ, शराब आदि दुर्गुण विरासत में मिले थे; किंतु अपने पवित्र साहचर्य से आर्यसमाज के मूर्द्धन्य मनीषी के रूप में ढालने वाली उनकी पत्नी थी। सरदार चूड़ावत को कौन जानता, यदि उनकी सहधर्मिणी हाड़ा रानी ने राष्ट्र, जाति एवं संस्कृति के लिए मर-मिटने का प्राण उनके अंदर न फूँका होता। भाभी की पवित्र प्रेरणाओं ने सरदार भगतसिंह को इतिहास पुरुष बना दिया और वीर बहन उत्तरा ने शंख जैसे कायर भाई को महान योद्धा बनने का पथ प्रशस्त किया। ये उदाहरण इस बात के प्रमाण हैं कि पारिवारिक जीवन में पुरुष और नारी, दोनों की समानता होते हुए भी मुख्य भूमिका किसकी है ?

यह तय करना हो, तो ध्यान स्त्री पर अपने आप केंद्रित हो जाता है; क्योंकि अंतरंग व्यवस्था से लेकर पारिवारिक जीवन तक जिसमें संवेदना, करुणा और ममता का मूलस्रोत वही है। इन गुणों के कारण परिवार का प्रत्येक सदस्य उसके निकट का हो जाता है और प्रभावित होता है। इससे स्पष्ट है कि किसी परिवार की सुख-शांति, समुन्नति का अनुमान करना हो, तो सर्वप्रथम उस परिवार में स्त्रियों की स्थिति का मूल्यांकन करना अनिवार्य हो जाएगा।

स्त्रियाँ अनपढ़, अनगढ़ और असभ्य हों तो उनके बालकों से कोई भी शिष्ट, सुसंस्कृत व्यवहार करने की आशा नहीं कर सकता। इसलिए प्राचीनकाल से ही हमारे देश में नारी को सद्‌गृहिणी के रूप में प्रतिष्ठा मिल सकी थी

और उसके स्वरूप को स्थिर बनाए रखने के लिए शिक्षा, सुसंस्कारिता और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वरिष्ठता प्रदान की गई थी।

सीताराम, गौरीशंकर, लक्ष्मीनारायण, राधेश्याम आदि शब्द नारी जाति की सजीव गरिमा का ही उद्घोष करते हैं। प्रत्येक नाम के पहले देवियों का नाम जोड़कर देवता का नाम स्मरण किया जाता है। माता, पुत्री, बहन, भाभी, चाची, दादी आदि सभी रिश्ते नारी की गरिमा का ही अर्थबोध कराते हैं। ये सभी पारिवारिक जीवन में प्रत्येक सदस्य को अपने स्तर से प्रभावित करते हैं। इसलिए एक का भी कुसंस्कारी, अशिक्षित, अनपढ़ और विग्रह प्रिय होना सारे कुटुंब की शांति-व्यवस्था को डुबा ले जाता है।

इसलिए परिवार संस्था को सर्वजनीय सुख, शांति के शाश्वत आधार का रूप खड़ा करना है, तो उसके प्रमुख घटक नारी को सभ्य, सुशिक्षित और सुसंस्कारवान बनाने की प्रक्रिया का शुभारंभ करना सर्वोत्तम उपाय सूझ पड़ता है। इस सुनिश्चित तथ्य को हमारे ऋषि-मनीषियों ने सभ्यता के आरंभिक दिनों में जान लिया था।

नारी का सम्मान

बेटे! एक समय था, जब एक नारी जाति की विशेषता को पूरी तरह समझा गया था। ''जहाँ नारी का सम्मान होता है, वहाँ देवता निवास करते हैं।'' इस एक वाक्य से भारत के अतीत की झलक मिल जाती है। इस देश के तैंतीस कोटि नागरिकों को एक देवता के सम्मानास्पद विशेषण से संबोधित किया गया, तो स्पष्ट है कि यहाँ के नारी समाज को बहुत सम्मान मिला होगा।

कौशल्या, सुमित्रा, सुनीति और सीता जैसी सुगृहिणियाँ, गार्गी, मैत्रेयी, घोषा, इला और विश्ववारा, अपाला, अरुंधती जैसी ब्रह्मवादिनी ऋषि और समरांगण में बैरियों के दाँत खट्टे करने वाली कैकेयी, सुभद्रा जैसी वीरांगना इन्हीं देवियों की ही देन है। रूढ़िवादी, अंधविश्वासी का हेय चिंतन प्राचीन भारत में कभी स्थान नहीं पा सका था।

पारिवारिक उत्तरदायित्वों से लेकर शिक्षा, संस्कृति, समाज तथा शासन कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं रहा, जिसमें भारतीय नारी का योगदान पुरुषों से कम रहा हो। कैयट ने व्याकरण शास्त्र लिखा। उसके अधिकांश श्लोक उनकी पत्नी भामती ने लिखे थे। याज्ञवल्क्य जैसे प्रकांड पंडित को विदुषी गार्गी के पांडित्य का लोहा मानना पड़ा था। ब्रह्मा जी ने एक बार बड़ा यज्ञ आयोजित किया। उसके आचार्य का पद मनु महाराज को सँभालना था। मनु अस्वस्थ हो गए, तो प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि अब इस यज्ञ का संचालन कौन करे? उस समय सारे विद्वानों ने एक स्वर से मनु की पुत्री इला को प्रमुख आचार्य घोषित किया। उन्हीं ने इतना बड़ा यज्ञ संपन्न कराया। महर्षि कण्व के आश्रम में पली और पढ़ी शकुंतला ने न केवल भरत जैसे प्रतापी बालक को जन्म दिया; अपितु कठिन समय में भी परावलंबन स्वीकार नहीं किया। जंगल में रहीं, तब अपनी आजीविका और बालक भरत की शिक्षा-दीक्षा का भार स्वयं उठाया और वापस लौटीं तो राजा दुष्यंत का सारा राजकाज वही सँभालती रहीं। एक ओर नारी का यह वर्चस्वप्रधान जीवन, तो दूसरी ओर आज की धार्मिक प्रतिगामिता, जिसने नारी जीवन को अछूत की श्रेणी में ला पटका है। उसके आत्मविकास के सारे अधिकार छीन लिए गए। इस स्थिति से नारी को उबारे बिना भावी पीढ़ी का निर्माण संभव नहीं।

शिष्य ने गुरु से पूछा—''गुरुवर! नदियों का पानी तो मीठा होता है, फिर उन्हीं नदियों के पानी के संग्रहण से जो समुद्र बनता है, उसका जल खारा क्यों होता है?''

गुरु ने उत्तर दिया—''वत्स! नदी का स्वभाव देना है और समुद्र का लेना। उदारता, दान और सेवा की अपनी मिठास है और वही नदियों को मीठा बनाती है। समुद्र लेता है और संग्रह मात्र करता है और इसी कृपणता के कारण उसका पानी खारा बना रहता है और किसी के पीने योग्य नहीं रहता।''

शिष्य को पता चल गया कि दानवीर का जीवन जीने से ही जीवन में मधुरता बनी रहती है और कृपणता मनुष्य को कटु बना देती है।

मध्ययुग में हुआ पतन

मध्ययुग भारतीय नारी के अपमान और पतन का इतिहास रहा है। अशिक्षा, बालविवाह, परदाप्रथा, दहेज

आदि जैसे अंधविश्वासजनित बंधनों ने इस तरह जकड़ा कि इन दिनों इसकी स्थिति अर्द्धमूर्च्छित और अर्द्धमृतक जैसी हो रही है। स्वतंत्रता के सैंतीस वर्ष बाद भी नारी के स्तर में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया। शिक्षा के क्षेत्र में थोड़ी प्रगति देखने को मिली तो अवश्य, पर उसी अनुपात से दहेज की माँग बढ़ जाने की समस्या ने उनके भविष्य पर जबरदस्त प्रश्नचिह्न लगा दिया कि बच्चियों को उनकी शिक्षा दिलाई जाए अथवा नहीं।

भारतीय समाज की प्रगति में यह प्रश्न अहम महत्त्व रखता है। उसे सुलझाया न गया, तो परिवार नारकीय यंत्रणाओं में दिन गुजारते रहेंगे। विग्रह, कुसंस्कारिता और पराभव का अभिशाप आगे आने वाली पीढ़ियों को भुगतना पड़ेगा। चिंतन और चरित्र की उत्कृष्ट धरोहरों से विमुख, उद्दंड, आवारा और सब तरह से हेय कर्मों में लिप्त संतानें यहाँ के समुदाय में जन्में, पनपें तो कोई आश्चर्य नहीं समझा जाना चाहिए।

बेटे! भावनाओं की दृष्टि से भारतीय नारी का स्थान आज भी सारे संसार से ऊँचा है। इस संदर्भ में लाला लाजपतराय की आत्मकथा का वह अंश याद आ जाता है। घर की महिलाएँ मंगल करवा चौथ का व्रत कर रहीं थीं। उनके नन्हें नाती ने प्रश्न किया—"बाबा आज दादी, मम्मी ने भोजन क्यों नहीं किया?" लाला जी ने बताया—"वे व्रत कर रही हैं।" बच्चे के मुँह से फिर प्रश्न उभरा—"फिर आपने और पापा जी ने व्रत क्यों नहीं किया?" उत्तर में लाला जी ने सुदूर, अतीत का स्मरण कराते हुए कहा—"बेटा! हर भारतीय नारी में श्रेष्ठता के संस्कार जन्मजात होते हैं। इसलिए पुरुषों को आशंका नहीं रहती कि उन्हें खराब पत्नी मिलेगी, किंतु हर पुरुष चरित्रनिष्ठ और सदाचारी होगा, इसमें संदेह है।"

महिलाएँ इसीलिए व्रत-उपवास करती हैं, ताकि अच्छा ही घर-वर मिले। परिवार निर्माण के महान उत्तरदायित्व को पूरा करने के लिए नारी की योग्यता, शारीरिक और मानसिक क्षमता विकसित करने की आवश्यकता है। परदे में रहने, चक्की-चूल्हे और प्रजनन के अत्यधिक दबाव में रहने से शरीर, स्वास्थ्य तो चौपट हुआ ही है; कुंठाग्रस्त मस्तिष्क किसी काम का नहीं रह गया है, फिर श्रेष्ठ संतति की आशा कैसे की जा सकती है। ऐसी स्थिति में शिक्षा, स्वास्थ्य, स्वावलंबन, सुसंस्कारिता के प्रबल समर्थन द्वारा ही अपंगता के इस कलंक को छुड़ाया जा सकता है।

प्रत्येक भावनाशील सद्गृहस्थ यदि नारी जीवन की इन अभिन्न चार आवश्यकताओं की क्षतिपूर्ति में जुट पड़ें, तो देखते-ही-देखते परिवार का एक अच्छा स्वरूप उभरकर सामने आएगा। फिर सुख और समृद्धि भी सच्चे अर्थों में प्राप्त हो सकेगी। अल्पवयस्क बालिकाओं के पाणिग्रहण संस्कार का समाज में औचित्य नहीं रहा। विदेशी आक्रांताओं से शीलधर्म की रक्षा हेतु मध्यकाल में यह परंपरा पनपी थी। ग्यारह वर्ष की कन्याओं के विवाह को तत्कालीन धर्माचार्यों ने भी मान्यता प्रदान की थी।

संकट की घड़ी में लिया गया निर्णय हमेशा के लिए पत्थर की लीक बन जाए, यह शोभनीय नहीं है और न ही ऐसी अनुमति शास्त्र देते हैं। बाल-विवाहों के दुष्परिणाम कितने घातक निकलते हैं, इसका खुला दस्तावेज मद्रास की लेडी डॉक्टर मिस मेऊँ की पुस्तक 'नरभक्षी बकासुर' पढ़ लेने से बात पूरी तरह समझ में आ जाती है। भले ही यह परंपरा कभी श्रेष्ठ ठहराई गई हो, पर आज उसे त्याग देना नीति और धर्म की दृष्टि से सर्वथा अनुकूल ही होगा।

नारी जीवन की यह करुणाजनक स्थिति अपने ऋषि वंशजों से पूछती है कि क्या सचमुच हमारे पितामह इतने निर्मम रहे होंगे? कन्या को करुणा और वात्सल्य की स्नेहमूर्ति समझने वाले भारतीय समाज ने समय-समय पर इन घातक प्रथाओं का स्वयं परिशोधन किया है। बेटे! ऋषि दयानंद जैसे विचारकों ने बार-बार इस ओर ध्यान आकृष्ट किया है; किंतु पोंगापंथी श्रद्धालु समाज को विवेकशीलता की देहरी तक पहुँचने दें, तब तो कुछ बात बने। इसका स्पष्ट निर्देश स्मृतिकार मनु महाराज ने किया था। हमें खेद है कि उसी बुद्धिजीवी मनीषी परंपरा के धर्माचार्य मध्ययुग की अंधचलन की ही लकीर पीट रहे हैं। इससे न व्यक्ति का भला होगा और न राष्ट्र, जाति और संस्कृति का। आज देश स्वाधीन है। जनसंख्या का अत्यधिक दबाव भी है, अतएव अल्पवयस्क बालकों के विवाह का कोई औचित्य नहीं बैठता।

दमयंती अकेली जंगल में भटक गई, तब एक बहेलिये से आत्मरक्षा के लिए उन्हें शरीरबल का ही सहारा लेना

पड़ा था। हम्मीर देव की माता जब छोटी थीं, एक राजकुमार उन्हें रस्सी फेंककर पटकना चाह रहा था, पर उनने रस्सी जोर से खींची तो राजकुमार धरती पर आ पड़ा और उसने अपनी हार मान ली और हाथ जोड़कर के उनसे प्रार्थना करने लगा।

हमारी बच्चियों का स्वास्थ्य इस दृष्टि से भी आवश्यक है और स्वस्थ संतति की दृष्टि से भी। बालिकाओं को सबल और समर्थ बनाने की दृष्टि से खेल-कूद, व्यायाम आदि पर भी उतना ही महत्त्व दिया जाए, जितना कि बालकों पर। एक की भी उपेक्षा समूचे समाज की दुर्गति का कारण बनेगी। सफाई भी स्वास्थ्य का ही अंग है, इस बात को तो महिलाएँ भी समझें। बनावटी फैशनपरस्ती, जेवर और शृंगार प्रशाधनों में सिवाय बरबादी के और कुछ भी नहीं।

इन सबसे स्वास्थ्य तो चौपट होता ही है, घर की अर्थव्यवस्था पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। सौंदर्य के लिए स्वास्थ्य और स्वच्छता ये दो उपादान पर्याप्त हैं। वेशभूषा साधारण हो, पर स्वच्छ हो तो वह बनावटी शृंगार की अपेक्षा अधिक उत्तम होगी। इससे अनेक दुर्घटनाओं से बचाव का लाभ तो अनायास ही मिल जाता है। गृहस्थ जीवन की गाड़ी सुभीते से आगे बढ़ती है।

नारी आगे बढ़े और प्रेरणा दे

अश्लील आचरण की शुरुआत पुरुष करे अथवा न करे, पर इससे उत्पीड़ित नारी को अब प्रतिरोध करने में विलंब नहीं करना चाहिए। जब नारी स्वयं आगे बढ़ेगी, तब पुरुष भी प्रेरणा पाएँगे। वह सभ्यता की एक सीढ़ी और ऊपर चढ़ेगी। शिक्षा नारी जीवन के उत्कर्ष की दूसरी बड़ी आवश्यकता है। जरूरी नहीं कि वह स्कूली और आधुनिक ही हो। विचारशील होने के लिए जिस शिक्षा की आवश्यकता होती है, वह स्कूल की पुस्तकों से पूरी हो भी नहीं पाएगी। आजकल तो उसमें भ्रमित करने वाले अंश ही अधिक हैं।

शिक्षा का अर्थ है—मानवीय गरिमा का बोध। प्रारंभिक ज्ञान तो विद्यालय में कराया जा सकता है, पर उच्च शिक्षा के लिए विश्वविद्यालय आवश्यक नहीं। उसके लिए जीवन को ऊँचा उठाने वाले साहित्य की नारियों को भी उतनी ही आवश्यकता है, जितनी किसी पुरुष को। इसके लिए उपयुक्त व्यवस्था अभिभावकों को करनी चाहिए।

इस क्षतिपूर्ति के लिए सत्साहित्य की रचना की ओर और प्रसार की ओर हमारा ध्यान हमेशा बना रहा है। अनपढ़ और प्रौढ़ महिलाओं की शिक्षा की देख-भाल करना प्रत्येक गृहस्थ का आवश्यक कर्त्तव्य है। अपने साथी और सहयोगियों का बौद्धिक स्तर बढ़ाने में रुचि लेना नारी जीवन और समाज की बहुत बड़ी सेवा है।

परिवार को ऊँचा उठाने और बालकों की अधिक अच्छी देख-भाल करने के दो लाभ तो इस सेवा-साधना से हाथोंहाथ प्राप्त हो जाते हैं। इसमें महिलाएँ भी पीछे न रहें। शिक्षित महिलाएँ तो अग्रणी भूमिका निभा सकती हैं। कमला, हास्पेट और शिवदेवी शास्त्री जैसी समाजसेवी देवियाँ अपने प्रज्ञा परिवार के बीच से निकलें और अनपढ़ महिलाओं को साक्षर बनाने के लिए थोड़ा भी समय निकालें, तो यह अपने तरीके की महान सेवा होगी। जनसमर्थन, जनसहयोग की कमी नहीं पड़ेगी।

सुसंस्कारिता का महत्त्व शिक्षा से भी बढ़ा-चढ़ा है। माँ के संस्कार अच्छे हों और शैक्षणिक योग्यता कम भी हो, तो काम आसानी से चल सकता है। प्राचीनकाल में भारतीय परिवारों में षोडश संस्कारों की, बलिवैश्व यज्ञ की तथा कथा-कहानियों की परंपरा पूरे उभार पर थी। पहली रोटी गोग्रास की बच्चे में परमार्थ-भावना का बीजारोपण करती है। बलिवैश्व से देवत्व के प्रति समर्पण का पाठ पढ़ाया जाता है।

षोडश संस्कार बाल मनोविज्ञान का अति उच्चस्तरीय निर्धारण कहा जा सकता है। सड़क के हर मोड़ पर, चौराहे पर दिशा-निर्देश के पट या बोर्ड लगे होते हैं, ताकि यात्रियों और वाहनों को निर्धारित दिशा की राह पकड़ने की सुविधा हो। संस्कारों को इसी तरह का उच्चकोटि का मार्गदर्शन समझना चाहिए। बल्कि इससे अनेक गुना श्रेष्ठ विद्या है। मनुष्य जीवन के प्रत्येक नाजुक मोड़ पर उसका प्रकाश मिलता है।

बालक का ध्यान विचारों की ओर मोड़ने के लिए चूड़ाकर्म एवं शिक्षा के महत्त्व को बतलाने समझ विकसित होते ही विद्यारंभ संस्कार कराना चाहिए। किशोरावस्था के भटकावों से बचाने के लिए व्रतबंध अर्थात यज्ञोपवीत संस्कार अतिमहत्त्वपूर्ण है। संस्कार पारिवारिक वातावरण में कितने उपयोगी थे, इसे आज भी स्पष्ट देखा जा सकता है।

ये कार्य घर की महिलाओं के जिम्मे ही रहे हैं। जीवन के मूल उद्देश्य की ओर सतत जागरूक रखने वाली इन श्रद्धासिक्त परंपराओं को पोषण देना चाहिए। परिवार का हर घटक चाहे वह पुरुष हो या स्त्री, थोड़ी-सी भी सावधानी बरतें, तो आशा की किरणों को झलकते देर नहीं लगेगी।

नारी जीवन का पतन यथार्थ में परावलंबन से शुरू हुआ। पुरुष कमाई करता है, इसलिए वह वरिष्ठ है और स्त्री उसकी आश्रिता, इस मान्यता ने नारी जाति का बहुत अहित किया है। स्त्री की भावनामूलक बनावट और कोमल देह दृष्टि के कारण किसी समय उपार्जन जैसा कठोर कार्य पुरुषों ने अपने कंधों पर उठाया था और गृह-व्यवस्था नारी को सौंपी थी। पीछे मूल आदर्श तो तिरोहित हो गया और परंपरा ने नारी जीवन को लूला-लँगड़ा कर दिया।

नारी को दासी मानने, उसे प्रताड़ित करने और दहेज जैसी विकृतियों की जड़ भी यहीं से फैली। पहले तो विधवा हो जाने या पति द्वारा परित्यक्त कर देने के बाद भी उसका भाई अथवा परिवार का कोई समझदार व्यक्ति उन्हें पूरे सम्मान के साथ रखकर जीवन-निर्वाह को कठिन होने से बचा लेता था। पर आज जब पारिवारिक परिवेश में स्वार्थपरायणता और संकीर्णता ने अड्डा जमा लिया है, इस कारण स्त्रियों का स्वावलंबन की ओर झुकना बहुत आवश्यक हो गया है। इससे जहाँ इन दिनों नारी जीवन से आत्महीनता की ग्रंथियाँ टूटेंगी, वहीं वे संकट के समय अपनी गृहस्थी का बोझ सँभालने के लिए परमुखापेक्षी नहीं बनेंगी। श्रेष्ठ, स्वाभिमानी संतति और सुखी परिवार के लिए नारी जीवन का चतुर्मुखी विकास आज की सर्वोपरि आवश्यकता है।

प्रत्येक प्रज्ञा परिजन, प्रत्येक भारतीय को इसे गंभीरतापूर्वक अनुभव करना चाहिए। इसके लिए आवश्यक कदम उठाने से किसी को भी हिचकिचाना नहीं चाहिए। इसमें किसी प्रकार की कोई भी धार्मिक मान्यता आड़े नहीं आएगी। जो लोग नारी को लांछित करते हैं, उसे धार्मिक अधिकारों से प्रतिबंधित ठहराते हैं, उन्हें सर्वप्रथम अपने प्राचीन ग्रंथों को जलाना होगा; ताकि उनके इस अधिकार का समर्थन करने वाले साक्ष्य शेष न रहें। पति की उदासीनता सहन न करने पर अपाला ने उच्चस्तरीय साधनाएँ संपन्न की थीं, तभी वे मंत्रद्रष्टा ऋषि हो पाईं।

रामवंश के यथार्थ इतिहासकार महर्षि वाल्मीकि जी ने अपनी रामायण में लिखा है कि जब सीता जी का अपहरण हो गया, भगवान राम उन्हें खोजने चले, तो उन्होंने लक्ष्मण से कहा—"तात! सायंकाल हो रहा है। सीता जी को जलाशय के किनारे संध्यावंदन बहुत प्रिय है। चलो उन्हें नदी किनारे ढूँढ़ें।" यह उदाहरण इस बात का प्रमाण है कि नारी का आत्मिक स्तर पुरुष से कतई कम नहीं।

इस तथ्य की खोज हिंदू धर्म के प्राण महामना मदन मोहन मालवीय ने स्वयं कराई थी। उन्होंने विद्वानों की एक कमेटी नियुक्त की थी, जिसने यह निष्कर्ष दिया था कि स्त्रियों को धार्मिक अधिकार पुरुषों से कम नहीं। तभी से बनारस हिंदू यूनिवर्सिटी में कन्याओं को वेद पढ़ाए जाने लगे। इतना होने पर भी यदि नारी जीवन में अपावन, आश्रित होने की मान्यता पनपती रही, तो इस देश की महानता को फिर से विकसित कर सकना कभी भी संभव न होगा, जो हमें प्राचीनकाल में प्राप्त हुई थी।

आज की बात समाप्त।

॥ ॐ शांतिः ॥

उत्तरदायित्वों से मुँह छिपा लेने में यह जोखिम है कि उन्हें ऐसा कुछ हस्तगत नहीं हो पाता, जिस पर गौरव किया जा सके। मनुष्य जीवन की गरिमा और जिम्मेदारी ही जिसकी समझ में न आई, उसके लिए पेट-प्रजनन भर में जिंदगी के दिन रोते-कलपते काट लेने के अतिरिक्त ऐसा कुछ हस्तगत हो नहीं पाता, जिससे संतोष, सम्मान पाने और सिर ऊँचा उठाकर प्रज्ञावानों, प्रगतिशील वरिष्ठों की तरह चलने का अवसर मिल सके।

—परमपूज्य गुरुदेव

अध्यात्म और संस्कृति का समन्वित रूप है विश्वविद्यालय

देव संस्कृति विश्वविद्यालय विभिन्न क्षेत्रों में विद्यार्थियों के सर्वांगीण विकास को लेकर प्रतिबद्ध है। विश्वविद्यालय समाज के विभिन्न वर्गों और क्षेत्रों में अपनी विशिष्ट पहचान रखता है। समय-समय पर विभिन्न क्षेत्रों के लोग यहाँ की अलौकिक सुंदरता एवं दिव्यता से आकर्षित होकर आते हैं एवं देव संस्कृति विश्वविद्यालय की मूल्यपरक शिक्षा से प्रभावित होकर कई संस्थान इससे अनुबंध स्थापित करने को भी तत्पर रहते हैं।

यही कारण है कि राज्य और राष्ट्रीय स्तर पर ही नहीं, अपितु अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी कई विश्वविद्यालय इस शिक्षण संस्थान से किसी-न-किसी रूप में जुड़ने के लिए तैयार हैं। इसी के साथ वैज्ञानिक अध्यात्म जैसे अद्भुत विषयों को लेकर विश्वविद्यालय नए मुकाम को हासिल करता नजर आ रहा है।

इसी क्रम में अप्रैल माह की कुछ गतिविधियाँ यह दरसाती हैं कि शिक्षा, विज्ञान, अध्यात्म, संस्कृति और कला जैसे प्रमुख क्षेत्रों में देव संस्कृति विश्वविद्यालय अपनी एक विशिष्ट पहचान बनाए हुए है। यहाँ का अद्भुत वातावरण और अद्वितीय विषय दूसरे विश्वविद्यालयों को भी आकर्षित करते हैं।

इसी क्रम में आई.सी.एफ.ए.आई. विश्वविद्यालय, देहरादून के माननीय कुलपति प्रो. आर. के. सिंह जी का आगमन विश्वविद्यालय परिसर में हुआ। विश्वविद्यालय आगमन पर उन्होंने प्रतिकुलपति जी से भेंटवार्त्ता की। इस दौरान प्रोफेसर सिंह ने 'वैज्ञानिक अध्यात्म' के क्षेत्र में अनुबंध के लिए प्रस्ताव रखा। विश्वविद्यालय के 'वैज्ञानिक अध्यात्म विभाग' द्वारा चलाए गए एक ऑनलाइन कार्यक्रम के माध्यम से वे विश्वविद्यालय और यहाँ की गतिविधियों से भी परिचित हुए।

विश्वविद्यालय की अन्य गतिविधियों में विश्वविद्यालय के 'सेंटर फॉर बाल्टिक कल्चर एंड स्टडीज' (बाल्टिक शिक्षा एवं संस्कृति केंद्र) के माध्यम से विनिमय कार्यक्रम के तहत विद्यार्थी एक सत्र के लिए दौगवपिल्स यूनिवर्सिटी, लाट्विया गए हैं।

इस दौरान उन्होंने लाट्विया के माननीय राष्ट्रपति, श्री इगिल्स लेविट्स से मुलाकात की। इस स्वर्णिम अवसर पर विद्यार्थियों ने उनके साथ देव संस्कृति विश्वविद्यालय के 'वैश्विक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक पुनर्जागरण' के मूल दर्शन को साझा किया।

समय-समय पर विभिन्न क्षेत्रों के गणमान्यों का विश्वविद्यालय में आगमन होता रहा है। इसी क्रम में उत्तराखंड राज्य के नवनिर्वाचित कैबिनेट मंत्री (शिक्षा एवं स्वास्थ्य) डॉ. धनसिंह रावत अपने परिवार सहित विश्वविद्यालय पधारे। यहाँ की गतिविधियों को लेकर उन्होंने प्रतिकुलपति जी से संवाद एवं परिचर्चा की। वहीं दूसरी ओर केंद्रीय शिक्षा राज्यमंत्री अन्नपूर्णा देवी जी ने भी विश्वविद्यालय आगमन पर प्रतिकुलपति जी से भेंटवार्त्ता की। दोनों ही अतिथियों द्वारा विश्वविद्यालय द्वारा शिक्षा जगत् में किए जा रहे अविस्मरणीय योगदान की सराहना की गई। उन्होंने प्रज्ञेश्वर महादेव के दिव्य प्रांगण में जलाभिषेक किया, तत्पश्चत शांतिकुंज पहुँचकर अखंड दीप और समाधिस्थल के दर्शन किए।

केवल अध्यात्म ही नहीं, बल्कि आधुनिक विज्ञान की समझ को विकसित करने के लिए भी विश्वविद्यालय सक्रिय है। हाल ही में सेंटर फॉर आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस रिसर्च (सीएआईआर) द्वारा, देव संस्कृति विश्वविद्यालय ने कंप्यूटर विज्ञान विभाग के छात्रों के लिए 'आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस आधारित साइबर सुरक्षा' पर विशेष वार्त्ता का सफलतापूर्वक आयोजन किया। छात्रों को प्रख्यात वक्ता—श्री पल्लव मिश्रा (प्रमुख, अर्थव्यवस्था और डेटा विज्ञान), मुख्य प्रौद्योगिकी अधिकारी (एसेंट बिजनेस टेक्नोलॉजी इंक), पूर्व कार्यक्रम निदेशक, रक्षा अनुसंधान और विकास संगठन (डीआरडीओ) से बातचीत करने और सीखने का सौभाग्य मिला।

देव संस्कृति विश्वविद्यालय भारतीय पुरातन संस्कृति से संबंधित कलाओं के पुनर्जागरण में भी विशेष योगदान दे रहा है। विश्वविद्यालय के संगीत विभाग और भारतीय संस्कृति केंद्र—सभी विद्यार्थियों में पुरातन कला को जीवित रखने की प्रेरणा से भर देते हैं। इसी क्रम में मशहूर बनारस घराने से पधारे गायक पंडित रितेश मिश्र एवं रजनीश मिश्र जी द्वारा विश्वविद्यालय में शास्त्रीय संगीत पर एक विशेष प्रस्तुति दी गई।

इस कार्यक्रम में मिश्रा बंधुओं द्वारा विभिन्न रागों की प्रस्तुति की गई, जिसमें भवसागर से पार करो प्रभु, जो राग-रंग का भर-भर प्याला पिए और पिलावे साधु बोल के गायन ने कार्यक्रम में उपस्थित लोगों को भावनाओं से ओत-प्रोत कर दिया। उन्होंने विश्वविद्यालय के प्रतिकुलपति जी से भेंटवार्त्ता कर विश्वविद्यालय के मूल दर्शन, उद्देश्य एवं भारतीय संस्कृति से संबंधित विषयों पर चर्चा की।

देव संस्कृति विश्वविद्यालय से शिक्षा प्राप्त करने वाला विद्यार्थी समाज के लिए समर्पित हो जाता है। यहाँ की शिक्षा हमें बताती है कि राष्ट्रनिर्माण के लिए समय देना ही सच्ची सेवा है। यहाँ के छात्र-छात्राएँ विभिन्न विधाओं में खुद को निपुण करते हुए नजर आते हैं। विभिन्न प्रतियोगिताओं के माध्यम से वे छात्र विश्वविद्यालय को गौरव प्रदान करते हैं।

इसी क्रम में जस्टिस डॉ० नागेंद्र सिंह मेमोरियल लाइब्रेरी, रुड़की द्वारा 'नारी शक्तिकरण और भारतीय कानून' विषय पर ऑनलाइन निबंध प्रतियोगिता का आयोजन किया गया। इस प्रतियोगिता में विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों ने प्रतिभाग किया। इनमें वर्तिका प्रजापति ने तृतीय एवं भाग्यश्री अग्रवाल ने छठा स्थान प्राप्त किया। विश्वविद्यालय के प्रतिकुलपति जी ने सभी प्रतिभागियों को शुभाशीष प्रदान किया। साथ ही 'इनोवेटिव आइडिया प्रतियोगिता' के विजेताओं और प्रतिभागियों को सम्मानित भी किया। इस दौरान विद्यार्थियों ने अपने स्टार्टअप आइडिया साझा किए। प्रतिकुलपति जी ने विद्यार्थियों को उनकी सफलता हेतु शुभकामनाएँ दीं।

देव संस्कृति विश्वविद्यालय अपनी अंतरराष्ट्रीय उपलब्धियों के लिए विख्यात है। इसी क्रम में देव संस्कृति विश्वविद्यालय द्वारा भारत में लिथुएनिया के राजदूत श्री यूलियस प्रेनेविचिअस को विशिष्ट पुरस्कार द्वारा सम्मानित किया गया। यह पुरस्कार उनके द्वारा भारत एवं बाल्टिक देशों के मध्य सामाजिक एवं सांस्कृतिक संबंधों को सुदृढ़ बनाने के लिए दिया गया।

इस अवसर पर माननीय डॉ0 धनसिंह रावत जी, कैबिनेट मंत्री उत्तराखंड सरकार, मुख्य अतिथि के रूप में पधारे। देव संस्कृति विश्वविद्यालय द्वारा चलाई जा रही अंतरराष्ट्रीय गतिविधियों की उन्होंने भूरि-भूरि प्रशंसा की एवं विश्वविद्यालय को उत्तराखंड के पटल पर एक अभिनव संस्थान के रूप में प्रतिष्ठित बताया। इस अवसर पर देव संस्कृति विश्वविद्यालय के प्रतिकुलपति एवं समस्त आचार्य-आचार्यागण उपस्थित रहे।

विगत दिनों देव संस्कृति विश्वविद्यालय के प्रतिकुलपति जी द्वारा उत्तराखंड के राजभवन में प्रज्ञेश्वर महादेव शिवलिंग की स्थापना की गई। यह प्राणप्रतिष्ठा उत्तराखंड के राज्यपाल माननीय श्री सिंह जी एवं उनकी पत्नी की उपस्थिति में संपन्न हुई। माननीय राज्यपाल ने इसे उनके जीवन का एक दिव्य एवं गौरवशाली क्षण बताया। ❑

प्रसिद्ध कवि रवींद्रनाथ टैगोर जी से किसी ने प्रश्न किया—"संयम धारण करने से मनुष्य को क्या लाभ होता है" तो उन्होंने उत्तर दिया—"संयम से ही मनुष्य का विकास होता है। वृक्ष की जड़ें पृथ्वी से जुड़ी हुई हैं, इसलिए वह ऊँचा होकर फलों से शोभा पाता है। वृक्ष सोचे कि यह जड़ों का बंधन किसलिए? मुझे इन्हें तोड़कर स्वच्छंद ऊपर उठने दो, तो क्या ऐसा होने पर वृक्ष सुसज्जित रह सकेगा? वृक्ष पृथ्वी से जकड़ा हुआ है, इसीलिए ऊँचा उठ सका और फल-फूल सका। सितार के तार बँधे होने के कारण ही दिव्य संगीत सुना सकते हैं। यह सब संयम की महिमा है। संयम बिना सुसंस्कृति नहीं, विकास नहीं।"

अपनों से अपनी बात

संघर्षों की घड़ी में लिखी जा रही सौभाग्य की कहानी

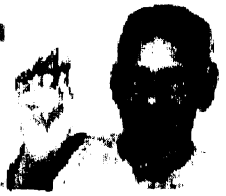

'हमारी वसीयत और विरासत' में परमपूज्य गुरुदेव ने एक अध्याय लिखा है, उसका शीर्षक है—'विनाश नहीं सृजन-हमारी भविष्यवाणी।' उसमें पूज्य गुरुदेव ने लिखा है कि 'संसार के सारे मूर्द्धन्यों, शक्तिवानों और विचारवानों की आशंका एक ही है कि सृष्टि का विनाश होने जा रहा है। हमारा अकेले का कहना यह है कि उलटे को उलटकर सीधा किया जाएगा।' वे आगे लिखते हैं कि 'हमारे भविष्यकथन को अभी भी गंभीरतापूर्वक समझ लिया जाए। विनाश की घटाओं को अगले दिनों एक प्रचंड तूफानी प्रवाह कहीं उड़ाकर ले जाएगा और अंधकार को चीरता हुआ प्रकाश से भरा वातावरण दृष्टिगोचर होगा।' पूज्य गुरुदेव उस आलेख में लिखते हैं कि 'यह कार्य ऋषितंत्र की चेतना करेगी, चाहे नाम दिलाने के लिए किसी को भी आगे क्यों न खड़ा कर दिया जाए।'

पूज्य गुरुदेव की लिखी इन क्रांतिकारी पंक्तियों को पढ़कर मन में रोमांच की लहर-सी दौड़ जाती है। पूज्य गुरुदेव ने आगे लिखा भी कि 'नवयुग का आगमन सुनिश्चित है। प्रज्ञायुग उसका नाम होगा। गंगा अवतरण का मन बना चुकी है। शिव जी ने अपनी जटाएँ बिखेर दी हैं। अब आवश्यकता भगीरथ जैसे राजपुत्र की रह गई है। अर्जुन को भी यह कहा गया है कि इच्छा हो तो विजयश्री का वरण कर वरना चुप बैठ। तेरे बिना महाभारत अनजीता न पड़ा रहेगा।'

जहाँ एक ओर इतनी स्पष्ट भविष्यवाणी हृदय में रोमांच को जन्म देती है तो वहीं कभी-कभी मन में एक प्रश्न भी उभरता है कि जिस परिवर्तन, नवयुग की ओर गुरुदेव ने इतना स्पष्ट संकेत किया तो वह घट क्यों नहीं रहा है? कष्ट-कठिनाइयों की तो लगता है जैसे घटाएँ ही उमड़ आई हों। प्रकृति और पर्यावरण भगवान नृसिंह की तरह से कुपित नजर आते हैं। मनुष्य की दुर्बुद्धि और दुर्भावनाएँ भी बढ़ते हुए ही नजर आते हैं और परिस्थितियाँ भी आज पूर्व की तुलना में ज्यादा विषम और विकल हैं और इनसे बचने का, भागने का कोई मार्ग भी नजर नहीं आता। जब पूरा विश्व ही अंधकार की परिधि में हो तो कोई भाग करके जाएगा भी कहाँ? ऐसे में प्रश्न उठता है कि ऐसा क्यों? तो उसका एक कारण तो यह है कि इस संसार में सौभाग्य की राहें संकट के मार्ग से गुजरने के बाद ही सुनिश्चित हो पाती हैं।

यहाँ एक सत्य स्पष्ट है कि यदि मानवता को अमृतपान कराना है तो पहले महादेव को नीलकंठ बनना पड़ता है। यदि माँ गंगा को धरती पर आना है या लाना है तो पहले किसी को भगीरथ की तरह तपना पड़ता है? यहाँ रामराज्य के आने से पहले भगवान राम को भी वनवास सहना पड़ता है और महाभारत में विजयश्री प्राप्त करने से पहले पांडवों को भी अज्ञातवास में रहना पड़ता है। इस संसार के शाश्वत नियमों में से एक यह ही है कि यहाँ सौभाग्य की राहें कष्टों के पथ से गुजरने के बाद ही खुलती हैं।

दूसरा कारण है कि व्यापक परिवर्तनों को मूर्त रूप देने के लिए एक व्यापक योजना को साकार करना पड़ता है। नवरात्र के दिनों में ज्वारे बोए जाते हैं तो वो कटोरी में ही उग आते हैं, परंतु फसल उगाने के लिए किसान जैसी व्यवस्था बनानी पड़ती है। हल, कुदाली, फावड़े आदि चलाने पड़ते हैं। मिट्टी की निराई-गुड़ाई का, खरपतवार को उखाड़ने का क्रम चलता है, तब जाकर खेती योग्य भूमि तैयार हो पाती है। वो उखाड़ने-पछाड़ने का, ध्वंस का कार्य भी उतना ही जरूरी है, जितना फसल के लिए बीजों को बोना। आज का समय ऐसा ही है, जब युग-परिवर्तन के लिए, प्रकाशित दैवी चेतना के अवतरण के लिए अंधकारमय परिस्थितियों के निस्तारण की प्रक्रिया इन दिनों अपनाई जा रही है। इसीलिए परिस्थितियाँ ज्यादा विषम और वीभत्स होती नजर आती हैं।

यही कारण था कि पूज्य गुरुदेव ने अखण्ड ज्योति के प्रथम पृष्ठ पर वर्षों पहले लिखा—

सुधा बीज बोने से पहले कालकूट पीना होगा।
पहन मौत का मुकुट विश्वहित मानव को जीना होगा॥

यह सत्य है कि इन दिनों कष्ट बढ़ा है, पर वो इसलिए बढ़ा है; क्योंकि वह एक सुव्यवस्था का अंग है। प्रकृति का सत्य यही है कि पहले कष्ट भोग लिया जाए तो बाद का जीवन आसान हो जाता है। ऐसा ही सृष्टिपर्यंत व्यवस्था में होता आया है और होता रहेगा। कठिनाइयों के क्षणों में ही आत्मपरिष्कार का अवसर मिलता है। पूज्य गुरुदेव ने 'हमारी वसीयत और विरासत' में लिखा है कि 'कृष्ण, भगवान बाद में बने, पहले तो उन्हें पैदा होते ही पूतना का विष झेलना पड़ा और दूध के दाँत टूटने से पहले बकासुर, अघासुर, कालिया सर्प से लड़ना पड़ा। महानता का पथ ही ऐसा है, जिस पर चलने वाले को, बढ़ने वाले को खतरे सहने पड़ते हैं।'

इसलिए इस समय में स्मरण रखने की आवश्यकता है कि आज के संघर्ष के थपेड़े वस्तुस्थिति में काल के सौभाग्य की शुरुआत है। पूज्य गुरुदेव ने सन् 1986 की अखण्ड ज्योति में 'सज्जनों की अग्नि परीक्षा' नाम से एक लेख लिखा था, जिसमें यह कहा भी था कि 'धर्मधारणा को समर्थ बनाने के लिए जब भी, जहाँ भी प्रयत्न होते हैं तो वहाँ उन पर आक्रमण होते हैं; क्योंकि जब पाप भरने को होता है तो पुण्य पर पूरी शक्ति के साथ आक्रमण करता है।'

हम स्मरण रखें कि वर्तमान समय की चुनौतियाँ उसी परिवर्तन की पृष्ठभूमि का हिस्सा हैं। इन्हीं चुनौतियों को पद्दलित करके आने वाले समय का सूर्य गायत्री परिवार को, भारत को नई रोशनी, नया उजाला, नया सवेरा, नया सौभाग्य प्रदान करने वाला है। ❑

राजा उत्तानपाद अपनी छोटी रानी सुरुचि से अत्यंत प्रेम करते थे। एक दिन बड़ी रानी सुनीति का पाँचवर्षीय पुत्र ध्रुव पिता की गोद में आ बैठा। सुरुचि ने उसे गोद से उतारते हुए कहा—"यदि पिता की गोद या सिंहासन चाहिए तो भगवान से प्रार्थना करो और अगली बार मेरे पुत्र के रूप में जन्म लो।"

दुःखी होकर ध्रुव ने जाकर अपनी माता को सारी बात बताई। सुनीति ने कहा—"विमाता ने ठीक ही कहा है, भगवान की भक्ति से ही श्रेष्ठ पद की प्राप्ति संभव है।" माँ की बात सुनकर ध्रुव वन की ओर चल पड़ा। मार्ग में उसे देवर्षि नारद मिले। नारद जी ने पहले तो उसे समझाकर घर लौटने के लिए कहा, परंतु उसके न मानने पर उन्होंने उसे दीक्षा देकर मथुरा-क्षेत्र में यमुना तट पर तपस्या करने के लिए कहा।

ध्रुव ने भूखे-प्यासे रहकर कठोर तप किया। उसके तप व भक्ति से प्रसन्न होकर भगवान ने उसे दर्शन दिए और आशीर्वाद दिया। ध्रुव प्रसन्न होकर वापस लौटे तो विमाता के चरणस्पर्श करते हुए बोले—"यदि आप उस दिन मुझे प्रेरणा नहीं देतीं तो मैं भगवान की कृपा प्राप्त करने हेतु तत्पर नहीं होता।" सुरुचि उसकी विनम्रता देखकर हतप्रभ थी।

स्मारक हम युगऋषि का.....

उमस भरी गर्मी से राहत, लेकर पावस आई है।
धरती का शृंगार करें हम, यही संदेशा लाई है॥

वृक्ष-वनस्पति उगा-उगाकर,
धरती को हरियाली दें।
सुषमा-सौंदर्य भरा हो जिसमें,
धरती फूलों वाली दें।

इसी कार्य में लग जाए अब, तरुणों की तरुणाई है॥

हरियाली धरती माँ को,
हमें ओढ़ानी पावन है।
रक्षाबंधन पर्व हमारा,
लाता पूनम का सावन है।

युवा शक्ति की यही साधना, परिवर्तन अँगड़ाई है॥

वृक्ष हमें अपना सब देते,
इनके बिना नहीं जीवन।
गमलों में हरियाली भर दें,
और बढ़ाएँ वन-उपवन।

यही भाव लेकर सावन की मचल रही पुरवाई है॥

स्मारक हम युग ऋषि का,
वृक्ष लगाकर खड़ा करें।
नहीं लगाएँ मात्र वृक्ष ही,
पालें-पोषें बड़ा करें।

वृक्ष हमारे परम हितैषी, ऋषियों ने महिमा गाई है॥

—विष्णु कुमार शर्मा 'कुमार'

देव संस्कृति विश्वविद्यालय के प्रतिकुलपति डॉ. चिन्मय पण्ड्या द्वारा यूरोप के विभिन्न विश्वविद्यालयों एवं प्रतिष्ठित शिक्षा संस्थानों से गहन परिचर्चा एवं भावी कार्यक्रमों की रूपरेखा का निर्धारण

अखण्ड ज्योति
(मासिक)
R.N.I. No. 2162/52

प्र. ति. 01-07-2022
Regd. N0. Mathura-025/2021-2023
Licensed to Post without Prepayment
N0. : Agra/WPP-08/2021-2023

विश्व पर्यावरण दिवस के उपलक्ष पर गायत्रीतीर्थ शांतिकुंज में विशिष्ट गणमान्य अतिथियों एवं संपूर्ण भारत से पधारे गायत्री परिजनों द्वारा वृक्षारोपण

स्वामी, प्रकाशक, मुद्रक – मृत्युंजय शर्मा द्वारा जनजागरण प्रेस, बिरला मंदिर के सामने, जयसिंहपुरा, मथुरा से मुद्रित व अखण्ड ज्योति संस्थान, घीयामंडी, मथुरा–281003 से प्रकाशित। संपादक – डॉ. प्रणव पण्ड्या।
दूर भाष–0565-2403940, 2402574 2412272, 2412273 मो बा.–09927086291, 07534812036, 07534812037, 07534812038, 07534812039
ईमेल– akhandjyoti@akhandjyotisansthan.org